महासती अंजना चरित्र आधारित

अधिकार

प.पू. न्याय विशारद आचार्यदेव श्रीमद् विजय
भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा

परम पूज्य सिद्धान्त
महोदधि आचार्यदेव
श्रीमद् विजय
प्रेमसूरीश्वरजी
महाराजा

परम पूज्य
न्यायविशारद
आचार्यदेव
श्रीमद् विजय
भुवनभानु
सूरीश्वरजी
महाराजा

परम पूज्य सिद्धान्त
दिवाकर, सुविशाल
गच्छाधिपति
आचार्यदेव
श्रीमद् विजय
जयघोष सूरीश्वरजी
महाराजा

महासती अंजना चरित्र आधारित

अधिकार

प.पू. न्यायविशारद आचार्यदेव श्रीमद् विजय

भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा

वीर संवत
२५४३

विक्रम संवत
२०७३

विमोचन पर्व

परम पूज्य सिद्धान्तदिवाकर,
सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा का ८२ वा जन्मदिन

₹:- 100

नकल : २०००

प्रकाशक

दिव्यदर्शन ट्रस्ट

प्राप्तिस्थान

दिव्यदर्शन ट्रस्ट
कुमारपाळभाई वी. शाह
३९, कलिकुंड सोसायटी, धोळका, जी. अमदावाद : ३८७८१०
O : 02714 - 225482
www.jainonline.org

कर्णावती ब्रश
रूपेशभाई वोरा
८२, फतेहपूरा गाम, उमंग म्युनिसिपल
स्कूल के पास, अमदावाद – ३८० ००७
M. 98240 38948

उर्मिलभाई शाह
D/२/३, नूतनजीवन को.हा.सो.,
कृपा नगर, इर्ला,
विलेपार्ला (वेस्ट) मुंबई – ५६
M. 98205 27710

हिन्दी अनुवाद
राजी संघवी, कर्णाटक

डिझाईन
हार्दिक कापडिया – 99200 56897
Prizm Art - 72088 37322

कम्पोझ
Magnet Graphics
99785 54500

प्रीन्टींग
पारस प्रीन्टस्
98690 08907

युग परिवर्तक

सदीयों में कभी-कभार ही ऐसे कोई पुरुष अवतरित होते हैं, जिनकी सिद्धि के मधुर परिणाम सदीयों तक लोगों को याद रहेंगे ।

परम पूज्य वर्धमान तपोनिधि, न्याय विशारद, आचार्य देव श्रीमद्विजय भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा !

जैनधर्म जब 19 वीं सदी से 20 वीं सदी में आगे बढ़ रहा था, तब इन युगपुरुष ने युग परिवर्तन का शंखनाद कर एक नयी क्रांति लायी । 20 वीं सदी के फास्ट ट्रेक पर दोडती-भागती दुनियाँ को एक क्षण के लिए स्थगित कर दे, ऐसा एक महा सिंहनाद किया ।

इनका संसारी नाम कांति था । इंग्लेन्ड में G.D.A (C.A. समान ही) डिग्री फर्स्ट क्लास पास करने के बाद इन्होंने 22 वर्ष की उम्र में सग्गे भाई पोपट के साथ जैनदीक्षा स्वीकार की ।

जैनधर्म की कठिन और कठोरतम साधना का पालन करने के साथ-साथ सघन शास्त्राभ्यास किया । जैनागमों के साथ-साथ अन्य धर्मों का

तलस्पर्शी अवगाहन भी किया । अभ्यास हेतु ज्यादा से ज्यादा समय मिले इसलिए ये महापुरुष छट्ठ के पारणे छट्ठ (यानि हर तीसरे दिन मात्र एक बार भोजन) करते थे !

अपने गुरुदेव पू. श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराज के मंगल आशीर्वाद लेकर, वि.सं. 2005 में मुंबई पधारें । इनके प्रवचनों ने युवकों पर जादुई असर की । मोह-माया की नगरी के भोग-विलासी श्रीमंतों के घर के लोगों को इनका एक प्रवचन वैराग्य में डूबों देता । जिस समय दीक्षा होना दुष्कर गिना जाता था, उस 20वीं सदी के पहले ही दशक में इन युगपुरुष ने परिवर्तन का महायज्ञ प्रारम्भ कर दिया । मात्र पाँच वर्ष में 35 युवक इनके शिष्य बनें, और जब इन महान युगपुरुष ने देहत्याग किया, तब 250 से भी ज्यादा सुयोग्य शिष्य के गुरुपद पर ये विराजमान थें !

अपने प्रवचन से इन्होंने सदा ही श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध किया । वि.सं. 2008 'दिव्यदर्शन' साप्ताहिक पत्र शुरु करके वाचकों के हृदय तक जैन तत्त्वज्ञान सरलता पूर्वक पहुँचाने का भगीरथ कार्य किया । यह 'साप्ताहिक पत्र' 42 वर्षो तक चला । जिसका समग्र संकलन 'भुवनभानु एन्साइक्लोपीडिया' के नूतन संस्करण में सम्मिलित किया गया है ।

वि.सं. 2011 वर्ष के दरमियान जब पूना में थे, तब मोरारजी देसाई की सरकार में बालदीक्षा के विरोध में प्रस्ताव चालु हुआ, तब तत्काल ही मोरारजी देसाई से मिलकर जैनदीक्षा का स्वरूप और उपयोगिता समझाकर मोरारजी को भी बालदीक्षा के समर्थक बना दिये ! अपनी तार्किकता, विद्वत्ता और पुण्य का

प्रताप दिखाया । 'बालदीक्षा करनी चाहिये या नहीं ?' यह मुद्दा जब जनमत पे सौंपा गया, तब इस युगपुरुष ने अपनी असरकारक जबान और वेधक लेखनी के माध्यम से बालदीक्षा के समर्थन में जबरदस्त माहौल खडा किया । उसका परिणाम ? बालदीक्षा के विरोध में 50,000 मत भी नहीं थे, जबकि समर्थन में 3,00,000 से भी ज्यादा मत थे ।

संयमित जीवन, जिनाज्ञा को समर्पित वर्तन, अनेकों को संयम देने के साथ-साथ उन शिष्यों का योगक्षेम, प्रवचन, लेखन, चिंतन वगैरह अनेक कार्यों की व्यस्तता के बावजूद भी जन-समाज को इन युगपुरुष ने कभी नजरअंदाज नहीं किया । आज कल के युवकों को धर्माभिमुख बनकर संतोषी और सुखी जीवन कैसे जी सके ? इसके लिए उन्होंने एक मौलिक प्रयोग भी किया । जिसका नाम है : 'शिबिर' । आज जो युवक धर्म के प्रति श्रद्धालु और संसार के प्रति संतोषी-सुखी दिखता है, उसमें शिबिर का योगदान महत्त्वपूर्ण है ।

19 वीं शताब्दी के आखरी दशक में दीक्षा स्वीकार कर इस युगपुरुष ने 20 वीं सदी के प्रथम दशक में जो परिवर्तन की क्रान्ति सृजन किया उसका वर्णन शब्दों में करना तो अन्याय ही होगा !

उनके पुरुषार्थ को देख कर ऐसा कह सकते है : 'उन्होंने एक जीवन में अनेक जिंदगी जी ली थी !'

उनकी सिद्धि को देखकर ऐसा कह सकते है : वो 'जेक ओफ ओल' नहीं, पर 'मास्टर ओफ ओल' थे ।

सौजन्य

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर,सुविशाल गच्छाधिपति
आचार्यदेव श्रीमद् विजय **जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा** के
८२ वे जन्मदिन निमित्त..

परम पूज्य संघशासनकौशल्याधार, आचार्यदेव श्रीमद् विजय
जयसुंदर सूरीश्वरजी महाराजा के
शुभाशीष से..

शाह चंपकलाल छोटालाल परिवार
शांताबेन चंपकलाल शाह

सुपुत्र : धनपालभाई — पुत्रवधू : दर्शनाबेन
पौत्र : शानव — पौत्री : अचिरा

कलम से निकला हुआ अमृत

परम पूज्य न्यायविशारद **गुरुदेवश्री भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा** का साहित्य, ऐसा है जैसे मिष्टान्न के साथ दी गई औषधि हो !

पूज्यश्री **परमतेज** एवं **उच्चप्रकाश ना पंथे** समान तत्त्वरस से भरपुर इन्जेक्शन-औषधि देने में तो समर्थ थे ही; साथ ही, **समरादित्य, सीताजी** आदि कथानक द्वारा मिष्टान्न भी देने में कुशल थे ।

पूज्यश्री की बातों में विशेषता तो यही रहती कि मिष्टान्न से अधिक 'कद' औषधि का रहता !

रूक्मी राजा, अनाथी मुनि, सीताजी, तरंगवती, सुलसा, अंजना... आदि अनेकविध कथाओं के माध्यम से पूज्यश्री ने, हमारे मुख से 'अद्भुत' शब्द निकल पडें, इस प्रकार मनमोहक तत्त्वचिंतन का निरूपण किया है ।

अधिकार ! महासती अंजनासुंदरी के जीवनचरित्र के आधार पर इस पुस्तक का आलेखन हुआ है । सती अंजना के जीवन के विभिन्न दौर में जीवन के सही अधिकार कौन से है ? यह बातें पूज्यश्री ने अति रोचक पदार्थो द्वारा समझाई है ।

सती अंजना के जीवन पर आधारित, प्रकाशित किये गये अनेक पुस्तक-कृतियाँ पढने-देखने का अवसर प्राप्त हुआ है, किन्तु पूज्यश्री ने जैसी तत्त्वदृष्टि से सती अंजना का जीवनचरित्र देखा है और तत्त्व-अमृत कलम से पुस्तक में तात्त्विक आलेखन किया है, वह देखते हुए पूज्यश्री की तत्त्वोन्मेष प्रज्ञा के आगे मस्तिष्क झुक जाता है ।

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद्विजय **जयघोषसूरीश्वरजी महाराजा** के जन्मोत्सव के उत्सव में पूज्य गुरुदेवश्री की कृतियों की **ओपन बुक एक्झाम** का आयोजन हो रहा है ।

लगातार चौथे वर्ष भी ओपन बुक एक्झाम के अद्भुत आयोजन में इस वर्ष **'अधिकार'** पुस्तक प्रकाशित हुआ है । तत्त्वजिज्ञासु आत्मा ऐसे अनमोल एवं तत्त्वसमृद्ध साहित्य का वांचन-मनन करते हुए आत्मविशुद्धि को प्राप्त करें, यही मंगल कामना...

कुमारपाल वी. शाह
कलिकुंड, धोलका

अनुक्रमणिका

१.	अधिकार	१.
२.	बाह्य जीवन	६.
३.	अभ्यंतर जीवन	१७.
४.	उत्तम विचार के अधिकार	२७.
५.	अंजनासुंदरी का जन्म	३८.
६.	२२ साल के विरह का बीज !	४२.
७.	अंजनासुंदरी का विवाह	५२.
८.	पवनंजय का परिवर्तन	६३.
९.	महासती पर कलंक !	७६.
१०.	पिहर से रुखसत	८५.
११.	अंजनासुंदरी का पूर्वभव	९९.
१२.	पुत्र जन्म	१०४.
१३.	भुल के बाद पछतावा	११९.
१४.	पवनंजय का अग्निस्नान ?	१३२.
१५.	महासती का कल्पांत	१४६.
१६.	पवनंजय का बचाव	१५८.
१७.	भुतवन में अभूत मिलन	१६३.
१८.	आनंद उत्सव	१७१.
१९.	हनुमान की पराक्रमवृत्ति	१८२.
२०.	रावण अधम नहीं	१९०.

१ अधिकार

सही और गलत अधिकार :

अनंत उपकारी जगद्गुरुश्री जिनेश्वर देव मनुष्य जीवन को अति महत्त्वपूर्ण अवसर बताते है । क्योंकि यह एक ऐसा उच्च कोटि का जीवन है कि इसके सही अधिकार को पहचान कर यदि उन्हें अपना लिया जाए, तो भवोंभव के फेरे ही मिट जाएँगे । ऐसे उत्तम भव को पानेवाले सुज्ञ पुरुषों को सोचना चाहिए कि मेरा सच्चा अधिकार कहाँ-कहाँ है ? और उसको किस प्रकार पूर्णरूप से जीवन में अपना कर अपना जीवन सफल किया जाएँ ?

जीवन में यदि ये निर्धारित हो जाए, तो गलत अधिकार; जिन पर हमारा हक नहीं है, उन अधिकारों को आजमाने की कोशिश व उमंग कम हो जाएगी और फिर सही मार्ग अपनाकर उसका अनुसरण करने से जीवन उच्च बन ही जाएगा और उसी क्रम से आगे बढते-बढते भवोभव की परंपरा का भी अंत हो जायेगा । अब विचार ये करना है कि कौन सा अधिकार सही और कौन सा गलत ?

पुरुषार्थ निर्भर है, पात्रता एवं पहुँच पर :

अधिकार एक ऐसी वस्तु है जिसे सब आजमाना चाहते है । यहाँ तक कि छोटा बालक भी पीछे नहीं रहता । अधिकार के सही मायने ना समझने के बावजूद भी, उसे यही लगता है कि यह और इतना मुझे मिलना ही चाहिए । फिर यदि ना मिल पायें, तो उसे पाने के लिए वह रोने-धोने का कार्य शुरु कर देता है ।

जिसकी जितनी पहुँच एवं पात्रता है, पुरुषार्थ उस पर निर्भर रहता है । पात्रता ऊँची हो, तो पहुँच कम होने पर भी पुरुषार्थ निम्न कक्षा का नहीं चलेगा । ऊँचे पुरुषार्थ की पहुँच ना हो अर्थात् शक्ति, सामग्री और संयोग अनुकूल ना हो, तो सच्चे पुरुषार्थ में कमी रह ही जाएगी, परंतु हल्का पुरुषार्थ तो होगा ही नहीं ।

हम कैसा पुरुषार्थ करते है, उच्च या हल्का ? इसी पर हमारी पात्रता का मूल्यांकन होता है । अपना ध्येय सिद्ध करने के लिए यदि हम बहुत दावपेंच या हल्के शब्दों का उपयोग और हल्के उपाय कर के झगडे आदि करते है, तो समझ लीजिए कि हमारे में पात्रता निम्न दर्जे की है, अधम है ।

पात्रता सुधारने हेतु क्या करना चाहिए ? :

परंतु इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि हमें अपनी पात्रता अल्प समझकर वैसे ही रगडे-झगडे करते रहने चाहिए । पात्रता सुधारने-निखारने के लिए ही ये भव मिला है । यहीं पर हमें पात्रता सुधारने का अधिकार है, इसलिए यदि हल्के पुरुषार्थ का विचार भी कभी आ जाये, तो उसे तुरंत रोक कर उत्तम पुरुषार्थ के विचार करना प्रारंभ कर देने चाहिए ।

उदा. : कोई व्यक्ति आपका और दूसरों का कुछ नुकशान कर रहा हो और वहाँ यदि हम में पात्रता नहीं होगी या हल्की पात्रता होगी, तो ऐसे भी विचार आयेंगे कि 'इसके साथ ऐसा ऐसा कर देना चाहिए ताकि उसकी दुष्टता रुक जायें ।' परंतु अब पात्रता सुधारने के लिए इन विचारों को उच्च विचारों में परिवर्तित कर देना चाहिए अर्थात् आपको यह विचार करना चाहिए कि, 'हे प्रभु ! इसे सद्बुद्धि प्रदान करें, ताकि ये अपनी दुष्टता को त्याग दें ।' इसके लिये संकल्पपूर्वक मैं 'श्री नवकार मंत्र का जाप करूँ, जिससे इस मनुष्य को सद्बुद्धि प्राप्त हो और वह किसी को नुकशान न पहुँचायें ।'

मुख्य कार्य तो 'दुष्टता रोकना' ही है ना ? तो फिर उसके लिए दुष्ट उपाय क्युं करें ? इस प्रकार उत्तम पुरुषार्थ के विचार करते-करते आपको आदत पड जायेंगी और फिर आपको सिर्फ उत्तम विचार ही आयेंगे, तब कहेंगे कि पात्रता में सुधार आया ।

कार्य तो उद्देश्य पूर्ण करना; इतना ही है, तो वह हल्की रीत से हो ऐसी इच्छा क्यों करें ? सामने वाले मनुष्य का अनर्थ आचरण सुधरें; इस उद्देश्य को सिद्ध करने के

लिए उसको आपत्ति में डालने की क्या आवश्यकता है ? उसकी सद्बुद्धि प्रज्वलित हो जाये, तो भी अनर्थ आचरण रुकेंगे ना ? तो फिर हल्के उपायों की क्या जरूरत है ? इसलिए पुरुषार्थ करना हो, तो उच्च उपायों का ही करें । ऐसे ही उत्तम पुरुषार्थ के विचारों की आदत डालने से वे स्वाभाविक हो जायेंगे । इसे ही पात्रता का निखरना कहते है या सुधरना भी कहा जा सकता है ।

पुरुषार्थ की कमी में स्व-पर के बारे में कैसी विचारणा ? :

पात्रता उच्च होने के बावजूद भी, पुण्य की कमी के कारण शायद उत्तम व उच्च पुरुषार्थ न कर पायें, ऐसा हो सकता है । तब दूसरों के लिए आपकी सोच और विचार ऐसे होने चाहिए कि 'क्या करें बेचारा ! पात्रता है, पर पहुँच नहीं, शक्ति नहीं, सामग्री नहीं, अंतराय और आवरण राह रोक रहे है, इसीलिए वह बेचारा उत्तम पुरुषार्थ नहीं कर पा रहा है ।'

पर वहीं खुद अपने आप की क्षमता पे धैर्य खो बेठों कि 'हाय ! हाय ! मुझसे क्युं अच्छा नहीं हो रहा ?' तो यह विचार करें कि 'शायद हो सकता है कि मेरे पुण्य की कमी के कारण मुझे पहुँच नहीं मिली । अत: पुरुषार्थ न हो पाये, यह सहज बात है । इसलिए शुभ विचारों, शुभ भावनाओं वगैरह से पुण्य बढा दुँ ।'

तब यदि दु:ख या पश्चात्ताप न हो कर ऐसा गर्व महसूस हो रहा हो कि 'उत्तम पुरुषार्थ कहाँ से होगा ? संयोग की कमी है ।' तब गुमान न करके ऐसा सोचना चाहिए कि 'हे नादान जीव ! तुं संयोग की कमी निकाल रहा है, मगर उत्तम पुरुषार्थ के लिए पहले तो खुद में पात्रता होनी चाहिए, वो ही कहाँ है तुझमें ? इससे भी भयंकर संयोगो में महापुरुषोने अपनी ऊँची पात्रता के योग से उत्तम पुरुषार्थ सिद्ध कर लिए है । इसलिए पहले पात्रता प्राप्त कर, पात्रता में सुधार कर ।'

अधिकार आजमाने के पहले पुण्य माप ले :

बात यह है कि बालक अपना अधिकार पाने के लिए रोने का पुरुषार्थ करता है । क्योंकि उसकी पहुँच एवं पात्रता इतनी ही होती है । कैसे भी उसे अधिकार पसंद

है । तब तो यह विचार करना है कि 'हम जो-जो अधिकार रखते है, जो-जो दावे करते है वो कितने वास्तविक है ? कितने हकपूर्वक के है ? और उसे आजमाने का मेरा पुण्योदय कितना है ?' ये विचारने योग्य है ।

कई बार मानव अपना पुण्य नहीं देखता और बस, साधन-सामग्री-अनुकूल संयोग पर दावा करने लगता है : 'मुझे क्यों इतना नहीं मिला ? सब मेरा क्युँ नहीं मानते है ? क्यों वह मेरी सेवा नहीं करता ?..' वगैरह-वगैरह । समझ नहीं कि माता का पुण्य पिता से अधिक होने के कारण बच्चें माता की सेवा ज्यादा करते है, पिता की कम । फिर वहाँ अधिकार की हठ करना तो व्यर्थ ही है : 'बेटा मेरा क्यों नहीं मानता, माता का ही मानता है ।'

अपने पुण्य की पहुँच न हो या अपनी इतनी पात्रता न हो, तो भी सामने वाला अपनी नहीं सुनेगा । जो बात पुण्य के अधिकार की है, उन पर अपने अधिकार मानने की भ्रान्ति में क्युं रहना ?

जीवन में जब कभी मनचाहा न मिलें अथवा मनचाहा न बनें, तब बस यही विचार करें कि, 'मेरे ही पुण्य की कमी होने के कारण मैं इन सब का हकदार नहीं हुँ, अधिकारी नहीं हुँ । जहाँ पुण्य ही दुर्बल है, वहाँ हक क्या ? सच्चा हक तो साधना पर है, गुणों पर है, अच्छी भावनाओं पर है, तो इन्हें क्यों ना आजमाउँ ?'

हाँ, जीवन पर अधिकार है; पर कैसे जीवन पर ? यह विचार करना चाहिए तथा यहाँ कैसे-कैसे अधिकार हमारे लिए हितकारी बनेंगे, उन्नतिदायक बनेंगे ? और कैसे-कैसे अधिकार नुकसान दायक और अधोगति दायक बनेंगे ? इसके विचार आवश्यक है ।

जीवन दो प्रकार के है : बाह्य और अभ्यंतर । इन दोनों प्रकार के जीवन में कितना और कैसा अधिकार पहुँचता है ? उसका नाप-तोल कर लें । अधिकार वहीं लागु हो सकते है, जहाँ हमारा आधिपत्य हो, हमारे वश की बात हो और जिसे इच्छा मुताबिक उपयोग किया जा सकता हो ।

अधिकारों को आजमा कर अपनी आत्मा को यदि उन्नति के मार्ग पर उठाया जा सकें, तो ही वह सही अधिकार कहलायेगाँ ।

- बाह्य जीवन में अधिकार होते है, पर वह बहुत ही अल्प और बिना महत्त्व के ।
- अभ्यंतर जीवन में अधिकार होते है, वह ज्यादा और उच्च कोटि के ।

२ बाह्य जीवन

बाह्य जीवन के दो प्रकार है : (1) व्यक्तिगत और (2) सामाजिक अर्थात् अन्य के संपर्क में आने वाला जीवन ।

(1) व्यक्तिगत जीवन को तीन भागों में बाँटा जा सकता है : (i) आर्थिक, (ii) शारीरिक और (iii) लौकिक जीवन ।

(i) धन पर अधिकार : पैसे किस प्रकार इकट्ठे करने है ? किस प्रकार संभाल के रखने है ? यह सब व्यक्तिगत वस्तुएँ है । इसमें अधिकार कितना ? अधिकार उतना ही है कि न्याय-नीति के मार्ग पर योग्य प्रयत्न से जो लक्ष्मी मिले, उसी पर आय और व्यय का योग्य हिसाब रखना, इतना ही अधिकार है । बस, यही हमें अंजनासुंदरी के प्रसंग में देखना है । उसने कैसे और कितने अधिकार का उपयोग किया ? यही विचार करना है ।

मानव, जहाँ अधिकार नहीं होता वहाँ आजमाने जाएँ, तो क्या होगा ? राह पर चलते इन्सान को खडा रखकर कहे : 'चल; 50 रुपये दे' तो वो क्या कहेगा ? ऐसा ही कुछ ना कि, 'गुंडे हो क्या ?' अधिकार ना हो वहाँ अधिकार दिखाओगे, तो मुँह की ही खानी पडेगी, अर्थ का अनर्थ हो जाएगा ।

- सत्ता, ओहदा (पद), कीर्ति पर अधिकार कितना ? सिर्फ पुण्य की मेहरबानी जितना बस ।
- पैसे कमाने पर अधिकार कितना ? सिर्फ पुण्य की मेहरबानी जितना बस ।

व्यवहार से देखों तो इतना होगा कि, नीति व न्याय की राह पर चले चलो, योग्य व्यापार व योग्य कार्य करों । न्याय के बाहर कदम उठाया या अयोग्य रीति से धंधा किया, तो फिर उसके पीछे अनेक विडंबना खडी होगी । अनुचित कुछ भी

करो, उसके पीछे अंत में शोषण होना ही है, थोडा ज्यादा या थोडा कम । बिसात=सामर्थ्य कम हो और करने जाए ज्यादा याने एक खेत जोतने का ही सामर्थ्य है और जोतने जाए पाँच खेत ! यह अधिकार के बाहर की बात है ।

आर्यदेश में योग्य व्यापार व योग्य कार्य करके लोग सुख से जीते थे । जिस कुल में जन्म हुआ है, उस कुल को जो शोभा न दे; ऐसा व्यापार करें, तो वो अधिकार के बाहर की बात हुई । हजाम ने लश्कर आने का सोचकर थैले भर भरकर भाजी का बडा व्यापार किया और अंत में कंगाल हुआ । महापाप के व्यापार में शायद ऊपर से देखों, तो पैसे ज्यादा आते हो, परंतु इसमें मन की कोमलता खत्म हो जाती है । देव-गुरु-धर्म के ऊपर का आकर्षण मंद और हृदय की स्वस्थता का नाश होता है । ऐसे कदम उठाने वालो की आज यह स्थिति है कि मन की पवित्रता-कोमलता ही नहीं बची । कलुषितता दिखती है, कठोरता दिखती है ।

आर्यसंस्कृति तो कहती है कि न्याय से चलो, योग्य धंधा करों, तो भी मनचाहे पैसे मिलेंगे ही; यह जरूरी नहीं है । क्योंकि आखिर तो यह अधिकार पुण्य का ही है । इसीलिए हमें मेहनत करने के बावजूद यही मानना चाहिए कि सिर्फ मेहनत से मैं पैसो का अधिकारी नहीं बन सकता । वहाँ अधिकार मेरा नहीं, मेरे पुण्य का है । इसीलिए मेहनत करने के बाद भी सफलता न मिलें, तो यही मानें कि अधिकारी पुण्य की कमी है ।

(ii) शरीर पर अधिकार : अब यह देखें कि हमारे शरीर पर हमारा अधिकार कितना ? इसका समयानुसार भूख और शारीरिक प्रकृति का बराबर माप निकाल दें ताकि शरीर आराम से काम कर पायेगा । पर 'नहीं, नही, भूख तो नहीं थी, पर खाना मीठा था; इसलिए खाँ लिया' फिर स्थिति कैसी होगी पता है ना ? पेट की गडबड और दूसरे दिन अस्पताल दौडना पडेगा ! इसी से डोक्टरों की कमाई बढती है ! ज्यादातर बिना अधिकार वाली चेष्टा करने वाले लोगों से अस्पताल भरे पडे है !

मेरी प्रकृति कैसी है ? गरम है, तो तीखा न खाँऊ । वायुवाली है, तो कठोल पर ना टुट पडुँ । कफ वाली है, तो शक्कर का स्वाद थोडा कम करुँ । भूख हो, तो भी प्रकृति को जानकर उसके अनुरूप खाऊँ और स्वाद कम करुँ; यह अधिकार की बातें है । ज्यादा चिंता (टेन्सन) ना करें, क्योंकि यह भी आरोग्य पर प्रभाव डालता है । भोजन के वक्त ध्यान रखें, मक्खी ना आ जाएँ वरना अनर्थ हो जायेगा । मानसिक आरोग्य के नियम संभालें ।

कालानुसार तो आपका ऐसा ही कुछ अधिकार है, पर वह थोडा ही है । क्योंकि इतना ध्यान व सावधानी रखने के बाद भी रोग होना संभव है । 42 वर्ष की उम्र में सफेद बाल, 52 वर्ष की उम्र में बत्तीसी गायब, 62 वर्ष में कमजोर नजर, ढीली हड्डियाँ, 72 वर्ष में मन की सुस्ती, बुद्धि मंद हो जाना, कमजोर याददास्त, बात भूल जाना... हमारे अपने शरीर पर भी हमारा अधिकार एक हद तक परिमित ही होता है ।

(iii) लौकिक अधिकार : लौकिक जीवन में तो मान, कीर्ति, सत्ता, सेवा इत्यादि का अधिकार भोगने के लिए बडी-बडी सावधानीयाँ रखनी जरूरी है । अधिकार लेने से पहले अपनी परिस्थिति भी विचारनी चाहिए कि हमारी खुद की योग्यता कितनी है ? किस किमत पर हम माँग रहे है ? चाहे कितने भी बडे अमीर क्युं ना हो, पर यदि उनमें स्वभाव की सौम्यता-उदारता न हो; उग्रता हो, कृपणता हो और उद्धताई हो तो कीर्ति नहीं मिलेगी । पीठ पीछे उनकी बुराई ही होगी । सौम्यता-उदारता बिना कीर्ति के अधिकार माँगने गलत है ।

आप कितने भी पैसे खर्च कर लो, लोगों को सामुहिक भोजन करा लो, पर यदि औचित्य न हो तो यश मिलता ही नहीं । औचित्य बिना यश का हक रखना ही गलत है । इसीलिए जो चतुर होते है, वह औचित्य का विचार पहले करते है । सामुहिक भोजन में घी-शक्कर के डिब्बे उलट दे, परंतु दाल-सब्जी पर ध्यान न दें, तो चलेगा क्याँ ? उनके घी-शक्कर खा कर भी लोग थू-थू ही करेंगे ।

लौकिक कीर्ति और मान भी सौम्यता और औचित्य से ही मिलते है । सिर्फ पैसे खर्च करने से नहीं मिलते । क्या औचित्य-सौम्यता महँगे है ? एक पाई का भी खर्च नहीं है, परंतु अज्ञानतावश सौम्यता नहीं है । सौम्यता और वर्तांव का औचित्य अंजनासुंदरी के अधिकार में बहुत ज्यादा देख पायेंगे आप ।

सौम्यता के कारण लोग पास आकर बैठते है, सलाह-मशवरा भी लेते है । सौम्यता के बिना मानव बाघ जैसा दिखता है, जिससे लोग डर कर दूर भागते है ।

- यदि औचित्य नहीं है, तो मनुष्य जंगली जैसा दिखता है । किसी का मन नहीं मानता कि उसके पास जायें ।
- वैसे ही जिसमें कृतज्ञता नहीं, जो सामनेवालों के उपकार याद रखने के बदले उस पर अपकार करने की चेष्टा करें, तो उसे मान नहीं मिलता ।
- दिल में यदि करुणा नहीं, तो भी कीर्ति का अधिकार नहीं मिलता ।
- यदि मन में गुणानुराग नही, निंदा है, तो भी अच्छे गिने जाने का अधिकार नहीं ।

लौकिक कीर्ति वाले बाह्य जीवन का अधिकार भी तब ही मिलेगा, जब उसके जीवन में उदारता की सुगंध हो, सौम्यता की सुरूपता हो, औचित्य की मीठास हो, कृतज्ञता की मुलायमता हो, गुणानुराग का गुण हो ।

जीवन तो जीते हो, पर निरीक्षण करो, पृथक्करण करो कि, 'एक जीवन में कितने और कैसे जीवन जीते हो ?' पैसा और खानपान की ही तरह कीर्ति व मान का भी जीवन है । दूसरों से सेवा पाना भी एक जीवन है, पर यह अधिकार कब मिलेगा ? रोक-टोक या मार-धाड से ? आप मेरे लिए नौ गज फाडो और मैं आपके लिए एक इंच भी ना फाड़ुँ तो ? परमार्थवृत्ति, दूसरों के लिए कुछ करना, खुद से ज्यादा जगत को संभालना; यही कार्य अधिकारी बनाता है ।

इन्द्रों और देवों करोडों की संख्या में यूँ ही सेवा नहीं करते है । इसके लिए भगवान ने किमत अदा की है । उसी के परिणाम रूप उन्हें देव और इन्द्रों की सेवा पाने का अधिकार प्राप्त होता है । मूल्य चूकाने से अधिकार प्राप्त होते है । वह मूल्य है : सेवा और परमार्थ । जीवन में अनिंद्य प्रवृतिवालों को कीर्ति और यश के अधिकार मिलते है ।

अधिकार किसे पसंद नहीं ? सब को पसंद है, है ना ? कहीं कहीं ही नहीं, हर जगह अधिकार चाहिए । 'मान मुझे मिलना चाहिये, अनुकूलताएँ मुझे ही मिले, आज्ञा मेरी ही मानी जानी चाहिए, पैसे मुझे मिलने चाहिए, आरोग्य मेरा उत्तम रहना चाहिए;' यह सब अधिकार चाहिये, पर खबर नहीं है कि इसके लिए क्या खर्च करना होगा ?

- दुनियाँदारी की तो सारी खबर है कि दो पैसे लिये बिना सब्जीवाला भी सब्जी नही देगा ।
- बैंक में नोट लेने चैक लेकर ही जाना पडता है, उसके बिना केशियर की पोस्ट पर बैठा सग्गा चाचा भी पैसा ना दें ।
- दिल्ली जाने के लिए टिकट लेनी पडती है । टिकट मास्तर मित्र-संबंधी होने पर भी ऐसे ही टिकट नहीं दे देगा, वो भी कहेगा : 'दोस्ती वोस्ती घर पर, यहाँ नहीं' ।
- खुद के शरीर पर आरोग्य का अधिकार रखने के लिए भी नियमों का पालन करना होगा । भूख बर्दास्त करनी होगी, नहीं पसंद हो वो औषधि भी लेनी पडेगी, पैसो की छूट ना भी हो पर फिर भी डोक्टर को बुलाना पडेगा, तीन दिन भूखा भी रहना पडेगा, आरोग्य के अधिकार पाने के लिए कई दिनों तक बस मुंग का पानी पी कर गुजारा करना पडेगा और दिवाली के दिनों में भी पक्वान्न आदि छोडने होंगे । शरीर के अल्प काल के आरोग्य को संभालने

के लिए इतना करना पडेगा, तो सोचों; आत्मा के अनंतकाल के आरोग्य की खातिर क्या-क्या नहीं करना पडेगा ?

शरीर तो 60,70 या 100 साल तक ही टिकेगा, पर आत्मा तो चिरकाल तक स्थाई रहने वाली है, अमर है, तो इसकी खातिर 'भाई ! खूब ध्यान दो' ऐसा रखा है ना ?

2-5 वर्ष रहने वाले नौकर पर शेठ उदार बन जाता है, इतना ज्यादा देता है कि उसका घर भर जाएँ; पर खुद का बेटा जो कायम के लिए उसी के साथ रहने वाला है उसे कुछ नही देता ! तो उसे आप मूर्ख ही कहोंगे ना ? तो फिर वो शरीर; जो 2-5 वर्ष जैसा ही है, उसकी खातिर सब अर्पण और आत्मा जो कायमी बेटे जैसी है, उसके लिए कुछ भी नहीं ? तो आप को मूर्ख ही कहा जायेंगा ना ?

- आत्मा की खातिर कुछ नहीं, इसीलिए तो नवकारवाली अर्थात् माला गिनने के बदले गप्पें लडाये जाते है ।
- तारणहार तारक भगवान की भक्ति के बदले दुनियाँ की भाव-भक्ति में लंबा समय अर्पण करते है ।
- सात धर्मक्षेत्र के बदले दुनियाँ के 18 क्षेत्र में आँख मींच कर खर्च करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है ।
- अमर आत्मा की सलामती चाहिए, तो इसे बदलना होगा । आरोग्य, मान, पैंसो का अधिकार उसे ही मिलेगा, जो उसकी किमत अदा करेगा और भोग देने के लिए तैयार होगा । उसके बिना तो कर्म सजा देता है ।

(2) पारस्परिक जीवन :

व्यक्तिगत जीवन की बात हुई । शारीरिक, आर्थिक वगैरह मामलों में अधिकार कितना और किस प्रकार हासिल किया जा सकता है ? वगैरह-वगैरह विचार किये । अब सामाजिक संबंध के संदर्भ में चलते जीवन को देखें ।

मनुष्य जन्म से वृद्धावस्था तक पहुँचता है तब तक, उसे जीवन में अनेक सबंधो से जुडना पडता है । माता के, पिता के, भाई के, बहन के, पत्नी के, पुत्र के, काका, मामा, मित्र-मंडल, शेठ, नौकर वगैरह अनेक रिश्तों से जुडता है । तब जीव को सामने वाले से प्रेम, सेवा, सत्कार, अनुकूल बर्ताव ही लेने का अधिकार पसंद आता है ।

'उसको मेरे ऊपर प्रेम रखना चाहिए, मेरी सेवा करनी चाहिए, मुझे सत्कार-आवकार, मान-सन्मान देने चाहिए, मेरे अनुरूप बर्ताव करने चाहिए' ऐसे अधिकार मानते है । जो ऐसा न होता, तो यदि सामनेवाला प्रेम न दे, सेवा वगैरह न करें तो मन को बूरा नहीं लगता; पर बात-बात पर बूरा लग जाता है । यही साबित करता है कि वो अधिकार मान रहा है कि सामने वाला प्रेम क्यों नहीं रखता ? सेवा क्यों नहीं करता ? सत्कार क्यों नहीं करता ? अनुकूल बर्ताव क्यों नहीं करता ?

पर मानव को इतना विचार नहीं आता कि किस कारण में अपने आपको ऐसा अधिकारी, हकदार मानुँ कि जिससे मेरी सोच अनुसार न होने पर मेरा चित्त अशांत हो जाये ? और यह अधिकार प्राप्त करने के लिए मैंने ऐसा कौन-सा उच्च गुण प्राप्त किया है ? या उसकी क्या किमत चुकाई है ?

दूसरों के पास से प्रेम की आशा रखने के पूर्व खुद को सामने वालों पर नि:स्वार्थ प्रेम के झरने बहाने होंगे । संभव है कि सामने वाले से कभी भूल भी हो जायें, पर फिर भी हमारे प्रेम का स्त्रोत तो अखंड बहता ही रहना चाहिए, तो ही सामने वाले से प्रेम पाने के हम यत्किंचित् अधिकारी गिने जायेंगे, अन्यथा नहीं । हकीकत में तो दूसरे अधिकार ही धारण करने है, जो आगे विचारें जायेंगे, पर फिर भी यह व्यवहारिक बात है ।

युँ दूसरों से सेवा, सत्कार, मान, सन्मान पाने का अधिकार रखने से पूर्व आपको दूसरों की सेवा, सत्कार, मान, सन्मान करने का भगीरथ पुरुषार्थ भी करना पडेगा । **सही बात तो यही है कि हमें हमारी जवाबदारी निभाते वक्त तो**

बहानेबाजी याद आती है, पर सामने वालो के पास से तो सब अनुकूल पाना चाहते है और इसका दावा भी करते है ! यह कैसा अज्ञान ?

प्रेमपात्र बनने का अधिकार, सेवा पाने का अधिकार, सत्कार-सन्मान लेने योग्य जीवन के अधिकार रास्ते में नहीं पडे कि युँ ही मिल जायेंगे ?

कर्म सिद्धांत तो यहाँ तक कहते है कि, 'पहले अपना पुण्य देखें कि तेरा पुण्य इतना पुष्ट है या कमजोर है ? अधिकार हमारी इच्छानुसार नहीं मिलता, तो इससे यह साबित होता है कि हमारा पुण्य कमजोर है, पुण्य ना हो और फिर भी धमाल-चोकडी करने जाओंगे, तो पहले न मिलने का दु:ख तो था ही, उस पर ज्यादा संताप का दु:ख, सामने से नये आक्रमण वगैरह अनेक नये दु:ख आयेंगे ।

व्यवहार से तो पहले भोग देने की जरुरत है ।

सामाजिक संबंध में खुद के अधिकार तभी वाजिब गिने जायेंगे, जब हम उस प्रकार का बर्ताव करें । खुद की जिम्मेदारी समझकर खुद को भी योग्य जीवन जीना चाहिए । विचार करों कि 'मैं किसी का पिता हुँ, तो पिता के रूप में मेरी जवाबदारी क्या है ? बेटे का निश्चित रूप से भला हो, उस प्रकार उसको संभालना चाहिए । वह तो छोटा है और मैं बडा, उससे ज्यादा बुद्धि मुझमें है और अनुभव ज्यादा है; ऐसा समझकर योग्य जीवन जीना चाहिए, सहिष्णु बनना चाहिए, त्यागी व उदार बनना चाहिए ।' पिता का पिता योग्य, पत्नी का पत्नी योग्य, पुत्र का पुत्र योग्य जीवन होना चाहिए ।

क्युँ जी रहे हो आप ? :

इसके लिए आज कोई विद्यालय या पाठशाला नहीं । कोई पाठ या पुस्तक भी नहीं । कारण कि जीव के मुख्य ध्येय ही खबर नहीं ।

कोई यदि पूछे कि 'क्या कर रहे हो ?'

'दुकान जा रहा हुँ ।'

'क्यों ?'

'जीने के लिए करना ही पडेगा ना ?'

अब पूछों : 'जीने की क्या जरूरत है ?'

तो उत्तर मिलेगा : 'आत्मा का विकास करने के लिए ।' भाडे के शब्दों को रटा हुआ है, वही निकल पडेंगे ना ? 'जीना किस लिए है ?' यह कोई जानता नहीं ।

कोई कहेगा : 'मजे करने के लिए जीना है ।'

मानो कि किसी को फांसी की सजा सुनाई गई है और फांसी में अभी देर है । राजा उसको खाने पीने की सब सुविधा देता है, फिर भी उसको खाने का कुछ मन नहीं होता । क्योंकि उसको फांसी मिलनेवाली है; यह बात तो पक्की है । इसी प्रकार यहाँ जन्म मिला, इसलिए मौत रूपी फाँसी तो पक्की है ना ? तो फिर खाने-पीने आदि चीजों में मौज व मजा क्युं लगता है ?

एक राजा ने किसी को चोरी करते पकडा और उसे फांसी की सजा सुनाई । वो दया की भीख मांगता है । ऐसे में राजा की चार रानियों को उस पर दया आई और राजा को उसे छोडने की विनंती की ।

राजा ने कहा : 'मेरी आज्ञा नहीं बदल सकती ।'

रानीयों ने कहा : 'हमें 1-1 दिन दो ।'

राजा मान गया । एक-एक दिन एक-एक रानी को चोर सोंपा गया । हर रानी ने एक-एक दिन चोर को अच्छी तरह संभाला ।

पहली रानी ने अच्छे से नहला धुलाकर अच्छा खाना-पीना दिया ।

दूसरी रानी ने अच्छे अच्छे कपडे पहनायें, गहने पहनायें ।

तीसरी रानी ने बाग-बगीचे में घुमाया, वाहन में फिराया, अत्तर-सेन्ट आदि लगाया ।

चौथी रानी की बारी आयी तो वह बोली : 'मैं तो बहुत गरीब हुँ, राजा की मनपसंद

भी नहीं कि अच्छा खिला सकुं, मैं तो दाल और सूकी रोटी ही खिलाऊँगी; पर तेरे लिए एक चिट्ठी ले आऊँगी; जिसमें लिखा होगा 'अभयदान' । चौथी रानी ने सोचा कि आज तक राजा से मैंने कभी कुछ नहीं माँगा, इसलिए आज राजा के पास उस चोर के लिए पाँच अक्षर की माँग करुँ । युक्ति और नम्रता से राजा के पास पाँच अक्षर माँग लिये 'अभयदान' । फिर चोर को सजामुक्त कर के राजा के पास ले आये ।

राजा ने पूछा : 'कहाँ मजा आया ?'

चोर बोला : 'तीनों रानीयों ने मेरा खुब ध्यान रखा, पर उस वक्त मैं मानसिक तौर पर स्वस्थ नहीं था ।'

जीना किस लिए ? मौज करने के लिए ? मौज तो तीनों रानीयों ने बहुत कराई थी, पर उसमें मजा नहीं थी, क्योंकि सामने फाँसी का फँदा नजर आ रहा था । ये रानीयाँ तो बढीयाँ से बढीयाँ खिला-पीला रही थी, पर उस चोर को तो हर तरफ फंदा ही दिख रहा था ।

'फाँसी मिलेगी तब देखेंगे, बार-बार आयंबिल, उपवास, तप, त्याग, दान और शील; ये सब कष्ट क्युँ सहना ? खाओ, पीओ और मौज करों' ये बातें तो नास्तिक, नासमझ ही मानेगा । जिसे जीवन के ध्येय की भी खबर ना हों, जीवन की एक-एक प्रवृत्ति किस लिए करनी ? कैसे और किस प्रकार करनी ? कि जिससे सच्चा कल्याणमय अधिकार मिले; ये जो नहीं जानते, वो ही ऐसी धृष्टता कर सकते है । अत: सहृदयी वह है, जो जीवन के ध्येय को जाने, समझें और उसके लिए दूसरों के साथ योग्य बर्ताव को जाने और उसका आचरण भी करें ।

परंतु इस बात का ध्यान अवश्य रखना कि उसके बाद भी आप को शायद आप का मनचाहा अधिकार न भी मिलें, क्योंकि मिलेगा ही ऐसा कोई नियम नहीं है । आर्थिक, सामाजिक, लौकिक, सामूहिक यह सब अधिकार में तंत्र चलाने वाला सही मायनों में कोई चीज है तो वो है पुण्य बल । पुण्य बल के बिना कुछ नहीं होने

वाला । देखो;

- आरोग्य के हर नियम को जानने वाले भी रोगी होते है ना ?
- औचित्यवाले, सौम्यतावाले, सेवा-परायण लोगों को भी कीर्ति प्राप्त नहीं होती है, गरीब होते है; ऐसी संभावना है ना ?

हुकूमत भी पुण्य हो तो पार उतरती है । रावण ने तब तक हुकूमत की, जब तक पुण्य बल उसके साथ था, पर जब उसका पुण्य पूर्ण हुआ तब 'बाली' राजा के सामने गरीब गाय जैसा बन गया । आगे जाकर देखों तो जब पुण्यबल खत्म हुआ, तब जाकर फिर उसका अधिकार किसी भी चीज पर रहा ही नही । लक्ष्मण ने उसे खत्म कर दिया ।

इसलिए अब ऐसा जीवन जीना चाहिए कि जिस पर अधिकार प्राप्त हो । अभ्यंतर जीवन ऐसा है कि जिस पर हमारा अधिकार प्राप्त हो सकता है ।

३ अभ्यंतर जीवन

अभ्यंतर जीवन दो प्रकार का है : (i) शुद्ध आचार वाला और (ii) शुद्ध विचार से भरपूर ।

(i) शुद्ध आचार वाले जीवन में मार्गानुसारी का जीवन, सम्यक्त्व के आचार का जीवन, श्रावक के आचार का जीवन और साधु के आचार का जीवन; इस पर अधिकार पा सकते है ।

(ii) जब कि शुद्ध विचार के जीवन से मोक्ष प्राप्ति, भव उद्वेग, मैत्री आदि भावनायें, तत्वादि चिंतन, विशुद्ध आशय, परिणति ज्ञान, क्षमादि भाव, मन की पवित्रता, उच्च मनोरथ वगैरह जीवन में अपनाना, मैले, कलंकित और कषाय से भरें विचार या इच्छाओं का त्याग करना; इस पर हमारा पूर्ण अधिकार है ।

जहाँ अधिकार पहुँचता है, वहाँ उसका उपयोग नही करना और अधिकार नही है, वहाँ आकाश पाताल एक करके भी अधिकार लेना है; कितनी असंगत बात है ना ?

ध्यान रखों; शुद्ध भावनाओं का स्त्रोत बहता रखना हो, तो उसे रोकने वाला कोई नहीं, उस पर बस आप का और आप ही का संपूर्ण अधिकार है । तत्त्वचिंतन करने में कोई नहीं रोकेगा, क्षमादि के अभ्यास में कोई रोकने वाला नहीं; उस पर आपका ही अधिकार है ।

अब सच कहो कि क्षमा के बदले गुस्सा करने से क्या मिलता है ? बेटा मर गया या पत्नी मर गई, तो यमराज पर गुस्सा करने से वापस आ जायेंगे ? अरे, एक टूटा ग्लास भी ठीक करने की काबिलीयत, ताकत गुस्से में नहीं है । बीती हुई घटना में कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता । प्रपंच करो, गुस्सा करो, कुछ भी धमाल मचाओं फिर भी उसके आधार पर वस्तु पर अधिकार मिलता नहीं । तो समझदार

वही है, जो विचार करें कि इसके बदले क्षमा, मृदुता, सरलता पर अधिकार क्यों न रखे ? इस अधिकार को कोई लूट नहीं सकता ।

उत्तम स्तर की विचारधारा पर आपका ही अधिकार है । विचारधारा को बिगाड़ने से जो नहीं मिलने वाला, कुछ हासिल नहीं होने वाला, तो उसके लिए क्युं टूट कर मर जायें ? बाहरी दुनियाँ की बातों पर तो पुण्य का ही अधिकार है । जो हमारे अधिकार में है, उस वस्तु को छोडकर, जो अधिकार में नहीं है उस वस्तु के लिए प्रयत्न करने से अंत में पश्चात्ताप ही होगा ।

- दिन-रात प्रभु का स्मरण करना, देव-गुरु की उच्च कोटि की भक्ति करनी; यह हमारे अधिकार की वस्तु है ।
- कर्म का बलात्कार जीवन को आरंभ-समारंभादि पाप भरे रास्ते पर दौडाता और खींचता है, पर इस बात की ग्लानि होनी, इससे कंपित होना, भय-भीत रहना; ये अधिकार की वस्तु है ।

अंजनासुंदरी ने ये सब अभ्यंतर, शुद्ध जीवन के अधिकार अपनाये है, इसलिए तो ये आचार्य भगवंत श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराजा के हाथों लिखे शास्त्र में अमर बनी ! अभ्यंतर जीवन में भी आध्यात्मिक जीवन ये मोक्ष के अधिक नजदीक है अर्थात् ऐसा जीवन मोक्ष की नजदीक ले जाता है ।

शालिभद्र को पूर्वजन्म में उसकी माता ने उसको खाने के लिए खीर दी और कहा : 'बेटा ! तु खा ले ! मैं अभी आई'

पर उस बालक ने कौन सा अधिकार अपनाया ? खाने का नहीं, पर महातपस्वी मुनि को दान देने का !

माँ लौटकर आयी, उसने पुत्र को हँसते देखकर पूछा : 'बेटा ! लगता है पहली बार खीर मिली, इसलिए बहुत पसंद आयी लगती है !' फिर भी पुत्र कुछ बोलता नहीं है । सुकृत का ढिंढोरा न पीटने के अधिकार के बदले गुप्त रखने का और खुद को गंभीर बनाने का अधिकार अपनाया ।

धर्म की राह लेने का अधिकार मिला है, उस पर चलना हो तो कोई रोकने वाला नहीं । धर्म का पुरुषार्थ, धर्म की प्रशंसा, धर्म पर राग, परमात्म भक्ति की भरपूर भूख, इसकी तो हमें सोल एजन्सी मिली है यावत् सर्वविरति और कषाय निग्रह; इस पर हमारा संपूर्ण अधिकार है ।

हमारे दैनिक जीवन में एक-एक प्रसंग को किस दृष्टिकोण से देखना है ? ये हमारे अधिकार की बात है । ये एक बहुत अच्छा उपाय है कि सुख में उडो मत और दु:ख में शोक और रोना धोना ना करो । इसके लिए जीवन में प्रसंग दर प्रसंग को उचित दृष्टिकोण से देखना सीखना चाहिए । नादान मानव उलटा कर बैठता है । जैसे कि;

- बिमारी में कहता है : 'हवा लग गई ।' पर ये नहीं कहता कल ज्यादा खा लिया था ।
- कहता है : 'विटामिन्स कम हो गये है, टोनिक दीजिए ।' उलटा समझा, फिर विटामिन्स का खुराक लेता है, तो उससे उलटा असर पडता है या सही असर ?

जैसी पात्रता होगी, वैसी ही दृष्टि बनेगी । आपके अधिकार अच्छे व बूरे दोनों पर है । आप किसे चुनते है ? ये आप पर निर्भर है । जैसे कोई आपको गाली दे, तो यह भाव रखें कि 'एक ही तो दी, दो तो नहीं दी ना ?' दो दे, तो 'बाईस तो नहीं दी ना ?' बाईस दे, तो 'लकडी से मारा तो नहीं ना ?' लकडी से मारे, तो 'तलवार से तो नहीं मारा ना ?' और तलवार से मारे, तो 'मौत के घाट तो नहीं उतारा ना ?' मार डाला तो 'आत्मारूपी धन तो नहीं लूटा ना ?' समझदार मनुष्य यही दृष्टिकोण रखता है ।

अज्ञानी इससे उलटा विचार करता है और फिर बिना अधिकार की चेष्टा करके नरक के द्वार खोल देता है । कोई पैसा ले गया और वापस नहीं दे सका, तो 'हाय-हाय' कर के गलत विचारधारा पर चढ जाता है, पर क्या गलत विचारधारा से पैसे

वापस मिलते है ? नहीं ना ? देखना चाहिए कि पैसा वापस लौटा सकता है कि नहीं ? अगर सामनेवाले की परिस्थिति खराब है और नहीं लौटा रहा, तो मान ले कि 'दान कर दिया' यही विचार रखें । **सामनेवाला मनुष्य कितना भी बुरा हो, पर हमारे विचार अच्छे है, तो हमारा पुण्य बढता है ।**

सुना है ना सेठ का दृष्टांत ? एक सेठ था । एक बार उसके घर की दहलीज का दरवाजा टूट गया । सेठानी ने कहा : 'पता है ना दरवाजा टूट गया है ?'

सेठ बोले : 'सब अच्छे के लिए होता है ।' सेठ ने सकारात्मक-सही सोच से जवाब दीया ।

सेठ शाम को घर लौटे, तो सेठानी बोली : 'क्या अच्छा हुआ ? ये दहलीज का दरवाजा टूट गया और ये भैंस अंदर आ कर मर गई ।'

दरवाजा ठीक नहीं हो, तो घर रखवाली करने आधी रात तक पहरा देना पडता है, पर आत्मा की दहलीज का दरवाजा टूट जाये, तो उसकी रखवाली के लिए कब जागोगे ? रोज रखवाली करते हो ना ? कितने बजे ? आत्मा का जो होना हो वो हो, पर हमें कोई जागरुकता, सावधानी, रखवाली नहीं करनी, यही हकीकत है ना ? शेठ की तरह हमें भी सकारात्मक-सही अभिगम रखना चाहिए; इस पर हमारा अधिकार है ।

बाद में मरी हुई भेंस को देखकर चौकीदारी करने वाला कुत्ता डर के भाग गया ।

सेठानी बोली : 'कितना प्रमाद ? देखा; जो कुत्ता रखवाली करता था, वो भी डर कर भाग गया ।'

इस पर सेठजी बोले : 'जो होता है, अच्छे के लिए ही होता है ।'

उसी रात घर में कुछ चोर घुसे, बहुत ज्यादा अंधेरा था, बीच में मरी हुई भेंस पडी थी; जिसकी खबर चोरों को नहीं थी । हडबडी और उतावल में उसे टकरा गये । एकदम घबरा गये और चोरी के सामान-थैले नीचे गिर गये । फिर उन्हें ऐसा लगा

कि जैसे कोई पीछे से आ रहा है और तुरंत ही घबराकर वापस भाग गये । सेठानी ने सुबह देखा कि माल का ढगला पडा है, तो उसने सेठ को उठाया और सब बात बतायी ।

सेठ बोले : 'पता चला ना कैसे आया ? भौंकने वाला कुत्ता नहीं था, दहलीज का दरवाजा टूटा हुआ था और बीच में मरी हुई भैंस पडी थी; इसलिए यह सब हुआ ।'

ऐसा तो दुनियाँ में कभी कभी ही होता है, पर आध्यात्मिक दृष्टि प्रतिपल रख सकते है । झुकनेवाला ही अच्छा लगता है, जो तन कर रहता है वो किसी को नहीं पसंद आता । झुकता कौन है ? दृष्टिकोण अच्छा रखे वो ही ना ? 'कोई खराब बोलता है ? हो सकता है, बोलें, स्वभाव ही ऐसा है । सभी अपना अपना स्वभाव बताते है । इसमें आश्चर्य की बात ही क्या ?' इस प्रकार मन को समझाकर सीधा विचार करना चाहिए । शक्कर मिठास का, करीयातु कडवेपन का और अग्नि जलाने का स्वभाव वाले है । इसमें तमतमाने जैसा क्या ? अज्ञानी उधम मचाले, विरुद्ध बोल दे, तो भी सकारात्मक दृष्टिकोण वाले को रोने की जरूरत नहीं ।

दृष्टिकोण तारक या मारक ? :

बात यह है कि प्रसंग को आप किस भावना से देखते हो ? उसी पर सब निर्भर है अर्थात् जैसा आपका दृष्टिकोण होता है, उसी अनुसार आपको शांति व अशांति मिलती है । तारक दृष्टिकोण रखोगे तो शांति मिलती है, मारक दृष्टिकोण रखोगे तो अशांति मिलती है । दृष्टिकोण कैसा रखना; ये आपका अधिकार है । तात्त्विक समझ और नम्रता, भाव-दयादि तथा मैत्री और प्रमोद भावना के आधार पर तारक दृष्टिकोण होता है । अज्ञान, मोह-मूढदशा, स्वार्थांधता और ईर्ष्या अहंकारादि भावना के अनुसार मारक दृष्टिकोण होता है । अब दृष्टिकोण कैसा रखना है ? यह आपका अधिकार है ।

बाह्य अधिकार का उपसंहार :

अधिकार की बहुत बातें हुई । बाह्य वस्तु के साथ जीवन से जुडे है : एक;

व्यक्तिगत जीवन और दूसरा; सामाजिक जीवन ।

(i) व्यक्तिगत जीवन में,

- आर्थिक जीवन पर अधिकार कितना ? आप न्याय-नीति के अनुसार योग्य कार्य (व्यवसाय) से मिली कमायीनुसार खर्च कर सकते ।
- शारीरिक जीवन में अधिकार इतना कि आप नियमानुसार और योग्य आहार-विहारादि रखो तो सामान्य तौर से आरोग्य संभाल सकोंगे ।
- लौकिक (व्यवहार) जीवन में अधिकार इतना कि औचित्य, सौम्यता, कृतज्ञता, सेवा अनिंद्यप्रवृत्ति वगैरह रखों, तो लोक में आप को मान, कीर्ति, सत्कारादि मिलेंगे । यह व्यक्तिगत बात हुई ।

(ii) सामाजिक जीवन में,

कुटुंबी जन के साथ, मित्र, स्नेही, मालिक, नौकर आदि के साथ, ज्ञातिजनों, ग्रामजनों वगैरह के साथ आपके संबंध वाले जीवन पर अधिकार कितना ? इतना ही कि प्रत्येक के प्रति आप अपनी जवाबदारी को बराबर वहन करें, तो सामने वालो से अनुकूल व्यवहार और अच्छे बर्ताव की अपेक्षा रख सकेंगे ।

बस ! इतना ख्याल रहे कि ये सब आखिर तो पूर्वकृत पुण्य के हाथों में ही है । कर्म हमारे जैसे होंगे, वैसा ही होगा । सुख, सुविधा, सहयोग और इज्जत भरे जीवन पर अंतिम अधिकार तो पूर्व की पुण्याई के हाथों में ही है। पुण्य सलामत, तो सुख सुविधाएँ भी सलामत ।

सीताजी महासती थी, रावण के चुंगल से सही सलामत बच गयी, फिर भी अखंड कीर्ति और समृद्धि भरे जीवन पर अधिकार ना रख पायी । अपमान एवं अपकीर्ति पा कर गर्भावस्था में अकेले अनजान जंगल में छोड दी गयी । कारण ? यही कि पूर्व में मुनि की निंदा करके पापबंध किए थे, उसका उदय हुआ जिससे उनका पुण्य सलामत न रहा ।

यदि यह बात बराबर ध्यान में रहे, तो पूर्व के पुण्य पर आधारित इस जीवन पर खुद का अधिकार आजमाने का मन नहीं होगा । ऐसे प्रश्न मन में भी नहीं आयेंगे कि 'मुझे इतना धन क्युं नहीं मिला ? मेरा भाई मेरा क्युं लूट ले जाता है ? कौन है, जो मेरे बारे में उल्टा-सीधा बोलता है ?' ऐसे ऐसे बिना अधिकार के अरमान नहीं होंगे । क्युंकि आखिर तो बाह्य का सब पूर्व के पुण्य-पाप पर ही आधारित है ।

अभ्यंतर जीवन पर अधिकार का उपसंहार :

अधिकार तो वही आजमाये जाने चाहिए जो वर्तमान के पुरुषार्थ के आधीन हो । ऐसा क्या है ? अभ्यंतर जीवन । इसमें है (i) शुद्ध आचारमय जीवन और (ii) शुद्ध विचारों से भरा जीवन ।

इन दोनों पर और इनमें भी विशेष तौर पर, शुद्ध विचारमय जीवन पर हमारा अधिकार है । क्योंकि ये पूर्व के पुण्य की अपेक्षा पर निर्धारित नहीं है; ये हमारे वर्तमान के पुरुषार्थ पर निर्भर है । हमें सिर्फ इतना गौरव होना चाहिए कि 'अहो ! इस अनमोल मानव भव में मुझे ऐसे शुद्ध आचार-विचारमय जीवन पर अधिकार मिला है, ऐसे लोकोत्तर अधिकार मैं क्युं खो दुँ ? दुनियाँ में दूसरे अधिकार तो बहुत मिले है और मिलते रहेंगे । आज तक बहुत से अधिकार आजमाए है और आगे भी आजमाकर हम भोगने वाले है । पर इससे जीव को विशेष क्या मिला ? अभ्यंतर जीवन के ये अधिकार मिलने आसान नहीं है । मोटे हाथी जैसे प्राणी को भी शुद्ध आचार-विचारमय जीवन पर जो अधिकार नहीं मिले है, वो मुझे मिले है, इसलिए पुरुषार्थ तो कर लुँ ।' ऐसी भावनाओं का संवेदन हो, तब पुरुषार्थ सुलभ होता है ।

(i) शुद्ध आचारमय जीवन में,

मार्गानुसारी जीवन के पैंतीस आचार आते है । इन पर हमारा अधिकार है । न्याय-संपन्नता पालनी, आयोचित व्यय करना, निंदा और निंदनीय प्रवृत्ति का त्याग करना, माता पिता के पूजक बनना, परोपकार करना... ऐसे आचार को निभाना हो,

तो निभा सकते है । दिल में गौरव होना चाहिए कि ‘ये क्युं नहीं निभाऊँ ? ये तो मेरे हाथ की और कल्याण की बात है । यदि हल्के कुल में गया होता, तो क्या वहाँ ये मुमकीन होता ? वहाँ तो उत्तम आचार-विचार की मूल में समझ ही नहीं होती, तो फिर पालने का हक भी कैसा ? यहाँ समझ भी मिली, हक भी मिला तो क्युं ना पालुँ ? अवश्य पालुगाँ ।’ इस प्रकार से मार्गानुसारी जीवन पर का अधिकार जीवन में निभाया जा सकता है ।

इसी तरह अपुनर्बन्धक अवस्था के आचार : पाप तीव्र भाव से न करना, औचित्य का पालन करना वगैरह तथा मैत्री, प्रमोद, करुणा के पोषक आचारादि, वैसे ही योग की पूर्वसेवा के आचारादि तथा योगबीज के आचार जैसे कि जिनेन्द्र देव का कुशल चिंतनपूर्वक किया गया पूजन, भावाचार्य की भक्ति- वैयावच्चादि, धार्मिक प्रतिज्ञाएँ, शास्त्र लिखवाना-पढवाना वगैरह... ये सब पुरुषार्थ साध्य होने से ही इन सब पर हमारा अधिकार है ।

इससे आगे बढते है तो सम्यक्त्व के आचार; जिसमें जिनेन्द्र भक्ति, साधु की सेवा, जिनवाणी श्रवण, 67 प्रकार के व्यवहारादि । श्रावक धर्म के आचार; जैसे कि शक्तिअनुसार व्रत ग्रहण, दान, शील, तप, भाव, श्रावक की दिनचर्या, पर्वकृत्य, वार्षिक कृत्य, जीवन कृत्य, ग्यारह प्रतिमादि वगैरह तथा साधु धर्म के आचार में ज्ञानाचारादि पंचाचार के कई प्रकार, ओघ सामाचारी - दशविध सामाचारी वगैरह सामाचारी, त्याग-तपश्चर्या, विनय, भक्ति, ज्ञान, ध्यानादि कई प्रवृत्तियाँ..... इन सब आचारयुक्त जीवन पर हमारा अधिकार है ।

गलत अधिकार की कल्पना से दु:ख और विडंबनाएँ :

अलग-अलग, तरह-तरह की सुख-सुविधा पर हमारा अधिकार है; ऐसा हमें लगता है । हमारे मन में ये बात बैठ-सी गयी है, इसीलिए तो जरा सी सुख-सुविधा में, जरा सी भी अडचन आने पर हम उसे उदार हृदय से सह नहीं पाते, मन प्रशांत एवं स्वस्थ नहीं रह पाता, कडवाहट का अनुभव करता रहता है; हमने ठोस से

मान रखा है कि 'हमारे अधिकार की वस्तु हमें क्युं न मिले ?'

एक ही दुकान में काम करने वाले मुनीमजी और नौकर को ही देख लो । मुनीम का पगार रु 500 और नौकर का पगार मात्र रु 75, तो भी नौकर का मन कडवाहट, अफसोस अनुभव नहीं करता है । कारण कि उसको समझ और इस बात का ख्याल है कि मेरा अधिकार इतना ही है । पर हम तो बात-बात पर मन कचोटते है । मन हर बात पर दु:खी होता है । क्यों दु:खी होता है ? सभी सुख-साधनों के गलत अधिकार मान रखे है, इसलिए ना ? **एक बात सावधानीपूर्वक समझ लो, इसी गलत अधिकार के पीछे ही दु:खी होते हो और विडंबनाएँ खडी करते हो ।**

तब, सुकृत पर कितना अधिकार माना है ? सुकृत कम होने पर मन कितना कचोटता है ? मन को बुरा लगता है ? 'मेरा इतना मान नहीं किया गया, मुझे ये सुविधा नहीं दी गई, जितने मिलने चाहिए थे, उतने पैसे नहीं मिले...' बस, ऐसी ऐसी बातों से मन दु:खी होता है; पर,

- 'ऐसा सुकृत मैंने नहीं कमाया, ऐसे उत्तम श्रावक का या मार्गानुसारीता के आचार नहीं पालें' कभी ऐसी बातें सोच कर भी मन दु:खी होता है ?
- 'यहाँ निंदा में, स्वार्थ में ही समय व्यर्थ किया और धर्मकथा, प्रभुजाप एवं परोपकार के सुकृत को नहीं कर पाया' ऐसी बातों से मन कचोटता है ? क्यों नहीं ?

इस उत्तम भव में इसी के ही विशेष अधिकार मिले है । और ये अधिकार भी कैसे ? तारक अधिकार ! ये तारक अधिकार की भावनाएँ यदि अपनी रग-रग में बह नहीं रही है, यदि उसकी कदर-परवाह नहीं है; तो अब उसे हृदय में जगाओ । सोचो कि 'ये कैसे सुंदर विशुद्ध आचार-विचार से भरा जीवन जीने के अधिकार मुझे मिले है !'

‘दुनियाँ के नाशवंत सुख-सुविधा और सम्मान-सत्कार पर मेरा कोई अधिकार नहीं है । कारण कि

(i) एक तो मेरे पास ऐसा पुण्यबल नहीं, और

(ii) दूसरा; ऐसे अधिकार मिलने के बाद भी ये कोई शाबाशी-गर्व की बात नहीं ।

क्योंकि इससे तो हम ओर संसार में डूबते ही जाएँगे, पार उतरने वाले नहीं, तो जो डूबोने वाले है, उसे ‘अधिकार’ कैसे माने जाएँगे ?’ इस भावना को मन में बसा लो, फिर देखों; मन कितना शांत और निश्चिंत बनता है ! कैसे सच्चे सुख का अनुभव होता है ! फिर तो खुद को सहर्ष कष्ट देकर भी, दूसरों का भला करने की चाह और राह दिखेगी । उत्तम आचार-विचार के सुंदर, अच्छे, सच्चे अधिकार मिलने की कदर होगी !

४ उत्तम विचार के अधिकार

(1) मोक्षरुचि :

शुद्ध विचार के अधिकार में पहले नंबर पर यह विचार करने का अधिकार रखो कि संसार असार है, मोक्ष ही एकमात्र सार है तो अब इस उत्तम भव में दावापूर्वक मोक्ष ही सारभूत होने का पवित्र आशय रखूँगा । संसार भले ही अपनी अजब-गजब लीलाएँ दिखाता रहें, पर मेरे मन तो 'संसार निर्गुणी है ! संसार अपकारी है ! संसार भयंकर है ! संसार शुद्ध आत्मा पर एक घोर विडंबना सा है !' इन्ही सब शुभ विचार भरे जीवन पर मेरा अधिकार है । इन अधिकार को आजमाना भी आशीर्वादरूप ही है ।

(2) पवित्र आशय :

दूसरा अधिकार है : पवित्र आशय और अच्छे दिल का । दूसरी सब बात का पुण्य कम होगा, तो कम मिलेगा, शायद असुविधाओं का भी सामना करना पड़ेगा, पर हृदय के आशय पवित्र रखने से, दिल साफ रखने से क्या आपको कोई रोक सकता है ? नहीं ना ? ये रखने का अपना अधिकार है । आप अधिकार आजमाना चाहते हो, तो ये अधिकार आजमा लो कि 'अब तो मैं बहुत ऊपर आ गया हुँ । उच्च स्थान पर आने के बाद अब कभी गंदे एवं मैले आशय को धारण नहीं करुँगा, दिल को क्षुद्र नहीं बनाऊँगा ।'

दुनियाँ के किसी भी प्रसंग में जो होना हो वो हो, पर हृदय को तुच्छ बनाने में और मलिन आशय धारण करने से जीव को कभी कोई लाभ नहीं मिलता, उल्टा संताप ही बढ़ता है, पाप बढ़ता है, इतना महान उत्तम भव बरबाद हो जाता है । इसलिए हक पूर्वक पवित्र और उत्तम दिल रखुं । इसलिए पहले कहा वैसे दृष्टिकोण

उत्तम रखें; तारक रखें, मारक नहीं । ऐसा दृष्टिकोण रखें कि मन के उल्लास मरें नहीं, पाप विचार और दुर्ध्यान अंकुरित ही ना हो ।

(3) शुभ भावनाओं का अधिक अभ्यास :

उत्तम विचारमय जीवन के लिए तीसरा अधिकार है : शुभ भावनाओं का बार बार चिंतन । जीव अज्ञानी है, तभी तो उसे इतने सुंदर हक मिले है, उनको वो भुल कर अशुभ भावना और फालतु विचारों से मन को सताता है और परेशान करता है ।

- जैसे नादान मानव बार-बार खा-खा कर शरीर को तकलीफ देता है ।
- जुआरी बार-बार खेल-खेल कर धन को गंवा देता है ।
- कामांध मानव जहाँ तहाँ दुराचार करके इज्जत का लिलाम देता है ।
- वैसे ही अज्ञानी जीव बुरे विचार और गलत भावनाएँ कर-कर के मन को विडंबित कर देता है ।

फिर बेचारा मन ! दुर्बल और नि:सत्त्व बन किसी अच्छे कार्य में लगता ही नहीं । धर्मक्रिया में भी बुरे विचार करता है । उच्च कोटी के उपदेश अनेक बार मिलने पर भी आज ये फरियाद क्यों करता है कि ‘साहेबजी ! सुन तो लेते है, पर मन में बसता नहीं । ये पावर टीकता ही नहीं ?’ क्योंकि सुनते समय और विशेष कर सुनने के बाद शुभ विचारों और शुभ भावना के भरपूर आंदोलन दिमाग में रमण नहीं करतें ।

पातंजल योगदर्शन भी कहता है कि ‘वैराग्य की भावना के अभ्यास से अर्थात् बार-बार भावना भाने से अनादि के राग के संस्कार घिसते जायेंगे ।’

राग, ममता, तृष्णा के संस्कार के अत्यंत गहरे ताले भी टूट सकते है, जब वैराग्य की भावनाओं के प्रहार उस पर, बार-बार किये जायेंगे । इसलिए आज ही ये कार्य शुरु कर दे कि खाते-पीते, चलते-दौडते, बैठते-उठते ये शुभ भावनाएँ मन में चलती ही रहें ।

शुभ भावना यानि क्या ? मैत्री आदि की भावनाएँ, संयोग की अनित्यता, संसार में जीव की अशरणता, संसार संबंधो की विचित्रता और दु:खमयता.... वगैरह वगैरह भावनाएँ; ये ही शुभ भावनाएँ है ।

(4) तत्त्वचिंतन :

चौथा है तत्त्वचिंतन । जरूरी है कि जीव, अजीव वगैरह तत्त्वों का चिंतन करें, कर्मो के सिद्धांत का विचार करें, स्याद्वाद की व्यापकता का विचार करें... इत्यादि अनेक प्रकार से तत्त्वचिंतन करें । इससे दृष्टि निर्मल बनती है, झूठी मान्यताएँ और धारणाएँ भी पलट जाती है, अतात्त्विक दृष्टि नष्ट हो जाती है और सम्यक्त्व दृढ हो जाता है ।

(5) श्रद्धाबल :

उत्तम विचारयुक्त जीवन के लिए श्री अरिहंत परमात्मा और उनके वचन पर अथाग श्रद्धा रखो और मिथ्यात्व के भावों को बाहर निकाल फेंको । श्रद्धा व परिणति को इतनी बढा दो कि कभी भी शंका, आकांक्षा उठे ही ना और कदाचित् उठ भी जाएँ तो सर्वज्ञ प्रभु के अनंतज्ञान का, जगत में अरिहंत की महानता का, अपनी अल्पता का... ये सब विचार करके शंका को जड से साफ कर दो और श्रद्धा ऐसी दृढ रखो कि जैसे बालक माता की गोद में निश्चिंत हो कर बैठता है, वैसे ही आत्मा अरिहंत और उनके वचन के प्रति भी निश्चिंत बन सके ।

(6) क्षमादि के अभ्यास :

शुभ विचार भरे जीवन पर तारक अधिकार आजमाने के लिए मोक्षरुचि, पवित्र आशय, शुभ भावनाएँ, तत्त्वचिंतन और श्रद्धाबल की तरह क्षमा, नम्रता, सरलता और निस्पृहता को दिल में बसाने की जरूरत है । बार-बार क्षमादि के प्रयोग करने चाहिये ।

इसकी कुछ ओर ही बलिहारी है । इन प्रयोगों को जो करते रहते है, वो इनके मीठे फल का अनुभव करते है । दुनिया को आज क्रोध, अभिमान वगैरह के नशे में पागल बनता देख कर उसे दया आती है, आश्चर्य होता है : 'ये कैसा पागलपन !'

ये समझना कि 'दूसरा धर्म आदि कमाना मुश्किल है, पर क्षमादि गुण पाना अत्यंत सस्ता है; और सस्ता है तो भी इस लोक व परलोक के लिए भी अत्यंत महा लाभकारी है ।' पर क्षमावान वगैरह बनने के लिए, 'इसके सुंदर अधिकार यहीं मिले है, तो ये आजमाने ही चाहिये, परन्तु क्रोधादि के अधिकार नहीं' ऐसी जागृति, ऐसी ख्वाहिश-महेच्छा अवश्य रखनी चाहिये ।

(7) धर्म पर राग और प्रसंशादि :

शुभ विचारमय जीवन में धर्म पर राग, धर्म की प्रशंसा, धर्म करने की तत्परता वगैरह आंतरिक भाव को हक मान कर उनका विकास करते रहना । आज तक जड वस्तु पर राग, गुणगान और उनकी इच्छाएँ बहुत कर ली । अनंतकाल से यही तो करते आ रहे हैं, परंतु उसका परिणाम क्या है ? ये तो जानते हो ना आप ? है कुछ सार ? मिला कोई लाभ ? कोई विशेष-बडी कमाई दिखा सकते हो ? यदि नहीं, तो अभी भी उन अधिकारों का सेवन करना हैं ? छोडो ये सब बात, अब जो दिव्य अधिकार मिले हैं, उन्हें आजमाओं और जीवन में अपना लो ।

कह दो जीव से : 'राग करुँगा तो धर्म का, प्रशंसा करुँगा तो धर्म की । जहाँ-जहाँ धर्म दिखेगा, वहाँ-वहाँ उनका गुण गाऊँगा । धर्म को ही सही मानुँगा । अभिलाषा और तलब धर्म की ही करुँगा । अब धर्म की ही गरज रखनी है; बहुत गरज कर ली सबकी, पर अंत में दगा एवं द्रोह ही दिखा । जिसकी गरज करके मैं टूट गया, काया को तोड डाली, मन को थका दिया, पूरा जीवन होम कर दिया फिर भी अंत में तो ये दगा ही दे जायेंगें, रोते ही रखेंगें और भव में भटकाने का ही काम करेंगे, तो फिर क्युँ ऐसी गरज रखने की मूर्खता करुं ? बस; अब तो मुझे धर्म की ही गरज

करनी है । सच्ची गरज जब अंतर में जाग उठेगी तब कोई बहाना ही नहीं रहेगा.....।' ऐसे-ऐसे शुभ भावों को विकसाने हैं ।

जीवन में कमी तो सच्चे धर्म की आवश्यकता की ही है । धर्म की यदि सच्ची आवश्यकता हो तो 'धर्म क्युँ नहीं करते ?' इसके उत्तर में क्या बोलेंगे आप ? 'प्रमाद अडचन करता है, दूसरे काम बहुत है, चिंताएँ सताती है, शरीर साथ नहीं देता...' वगैरह वगैरह बचाव के बहुत रास्ते बतायेंगे ना ? वो भी बिना हृदय में दु:ख, बिना कलेजे में कम्पन और दिल में निराशा लाये बिना !

ऐसा नहीं लगता आपको कि आवश्यकता एवं गरज नहीं होने के कारण ही प्रमाद वगैरह बहाने है ? दुनियाँ में कई बातों की आवश्यकता है, तो वहाँ प्रमादादि की अडचन होती है ? दूसरें काम याद आते है ? तब उपाधियाँ रोकती है ? शरीर साथ नहीं देता ? मूल में ही आवश्यकता नहीं, तो फिर क्युं ये झूठे बचाव किये जाते है ?

इसीलिए दिल में धर्म की तरण-तारणता और महादुर्लभता का विचार करके पहले धर्म की गरज आवश्यकता के भाव पैदा करो । ये करने का यहाँ (मानवभव में) सुंदर मौका मिला है, अधिकार भी है तो उसको सफल बनाओं । धर्म की आवश्यकता का महत्त्व समझ कर भी कितना धर्म अमल में ना भी ला पायें; यह भी संभव है, परंतु वहाँ बहाने और बचाव के बदले खेद होगा कि 'ओह ! मैं केसा कमभागी हुँ कि धर्म-अमृत के बदले पाप का जहर पी रहा हुँ !' इस खेद के पीछे आपके जवाब और आवाज भी अलग ही निकलेंगे ।

(8) धर्म का समरस :

धर्म का महत्त्व व उसकी पक्की आवश्यकता समझने के बाद, आत्मा के साथ धर्म के समरस को लाने की जरूरत है । आचारधर्म की तरह विचारधर्म में यह एक महत्त्व का समरस भाव जगाना है ।

समरस का अर्थ पता है ना ? जब आप दूध में शक्कर डालते हो, तो फिर उसे अलग किया जा सकता है क्या ? नहीं ना ? दूध एवं शक्कर एकमेक हो जाते है, उसी प्रकार धर्म भी आत्मा के साथ मिलकर एकमेक हो जाना चाहिये । एकमेक भी ऐसे; जैसे अलग-अलग मसाले दाल और सब्जी के संग मिल जाते है, वैसे ही धर्मगुण -उदा. क्षमा, नम्रता, सहिष्णुता, परोपकार आदि एकमेक-एकरस हो गये हो । फिर कही ऐसा न हो जाये कि, 'परोपकार तो करूँ, पर सामने वाला गुस्सा करें या कुछ ऐसे बोल बोल दे, तो उस पर परोपकार कैसे करूँ ?' यदि परोपकार के साथ क्षमा एकरस हुई हो, तो गुस्सा या रीस होने ही नहीं देगी और परोपकार हो पायेगा ।

समरस की अद्भुत वस्तु समझ पूर्वक बहुत आदरने योग्य है । धर्म और गुण आत्मा के साथ एकरस-एकमेक नहीं होने के कारण भले ही उसका आचरण कर ले, पर ये सहज भाव से अमल में नहीं आ पाते, मन की इच्छा को दबाकर करना पडता है ।

उदा. उपवास मन मार कर करना पडता है । इसके परिणाम में प्रतिपक्षी पाप और दोष से उपवास बार-बार दब जाता है । उदा. खाने के रस के कारण उपवास लम्बे समय तक टाला जाता है । फिर चाहे धर्म और गुणों को कितना भी आदर करते हो, फिर भी पराया-सा लगता है । इसीलिए,

- फूल में सुगंध जैसे एकमेक हो गयी हो,
- शहद में मिठास जिस प्रकार घूलमिल गई हो,
- जैसे स्फटिक में उज्ज्वलता आर-पार होती है,
- जैसे सूर्य में रोशनी एकाकार है,
- उसी प्रकार धर्म और गुणों की भी आत्मा में धुलमिल एकाकार यानि आत्मा के साथ समरस कर लेना चाहिए, जिससे वो सहज बने, स्वयं की अपनी

सी वस्तु लगे, भूलने से भूल ना जा सके; उसमें हर्ष और उल्लास का कोई पार ही न हो ।

धर्म और गुणों को समरस करने का कल्याणकारी अधिकार यहाँ मिला है, तो इसको छोडकर पाप और दोषों को समरस रखने एवं करने वाले मारक अधिकार को अपनाना भी किसलिए ओर क्यों ?

भूलना मत कि धर्म और गुणों को समरस करने वगैरह का ये कार्य, पुरुषार्थ से ही सफल होगा, पुरुषार्थ-साध्य होने से ही इसके सच्चे अधिकार मिले हैं; यह बात मानी जायेगी । बाकी तो रंग, राग के सर्व पदार्थ मिलपाना, भोगना और संभलकर रखना तो पूर्व के पुण्य के ही आधीन है । पुण्य बलवान हो, तो ही ये बनता है, वरना नहीं । इसी कारण इस पर हमारा सच्चा अधिकार नहीं है । ये तो वैसे अधिकार है, जैसे किराये पर लिए हुए सामान पर हमारा अधिकार !

अंजनासुंदरी के चरित्र में देखना कि ये महासमृद्धि में जन्मी और विवाहित होने के बावजूद भी पुण्य कि कमी व निर्बलता के कारण उसके सारे अधिकार किस प्रकार लूट लिए गये ! तब उसमें शीलगुण नाम का समरस था, इसलिए किस प्रकार सहज भाव से और अपनी खुद की वस्तु की ही तरह शीलगुण को संभालने का अधिकार निभाया !

(9) अरिहंत पर उमडती प्रीति-भक्ति के अधिकार :

मोक्षरुचि, शुद्ध आशय, शुभ भावनाएँ, तत्त्वश्रद्धा, क्षमादि गुणों को जीवन में उतारने के या अपनाने के साथ-साथ धर्मराग, प्रशंसा, गरज (आवश्यकता) और धर्म के समरस को प्रदीप्त कर के शुभ विचारक्षेत्र में अरिहंत परमात्मा के प्रति उमडती प्रीति-भक्ति का भाव सही मायनों में जगाना होगा । ऐसे प्रीति-भक्ति भरे जीवन पर हमारा सच्चा अधिकार है । ऐसा जीवन बनाने का अधिकार; एक ऐसा सच्चा अधिकार है, जीसे हम आजमा सकते है ।

अधिकार ही आजमाने हो तो ऐसे अधिकार आजमाओं, दावाँ ही करना हो तो ऐसी ही बातों पर दावाँ करों, हक ही जताना है तो इन बातों पर हक जताओं । बाकी, वो सब फालतु के अधिकार हैं जो किराये पर मिले हुए अधिकार हैं, जो आत्मा को हास्यास्पद बनाने वाले अधिकार हैं; उन्हें आजमाने से क्या मतलब ? अंत में तो आत्मा को बदनामी देनेवाले और नुकसान करनेवाले अधिकार आजमाने से क्या फायदा ?

जैसे मनुष्य को सुशील पत्नी के प्रति प्रीति उमडती है, सुयोग्य माता के प्रति भक्ति उमडती है, उसी प्रकार अरिहंत परमात्मा के प्रति और उनके आदेशों के प्रति प्रीति और भक्ति जगानी हैं ।

'उमडती' का मतलब पता है ना ? मन को भीगों दे ऐसी । हृदय में एक झंकार सी उठा दे ऐसी । दिल को गद्गद् कर दे ऐसी । अरिहंत और धर्म यानी बस कैसे श्रेष्ठ ! करोड़ो रुपयों का खजाना और उनको देनेवाले देवता के प्रति कैसी प्रीति और बहुमान होगा ? ऐसा ही बहुमान भाव धर्म और धर्मदाता अरिहंत के प्रति होना चाहिये । फिर तो समरस होने में देर नहीं लगेगी, शुष्क हृदय को भीगते देर नहीं लगेगी । तब फिर उत्साह और उम्मीद प्राप्त करना आसान है ।

यह बात भी सही है कि अरिहंत और उनके आदेश को छोडकर दूसरे कहीं ओर प्रेम जगाने जैसा है क्या ? है कोई ओर बहुमान योग्य ? सारी की सारी कल्याण-साधनाओं को चेतनामय, स्फूर्तिमय और प्रगतिशील करनी है, तो पहले अरिहंत परमात्मा और उनकी आज्ञा के प्रति प्रीति-भक्ति से मन और हृदय को भीगो दो !

(10) परमात्मास्मरण-संवेग-वैराग्य :

शुभ विचारक्षेत्र में जिन और जिनाज्ञा के प्रति प्रीति-भक्ति के साथ-साथ अरिहंत परमात्मा का स्मरण भी हमारे अधिकार की बात है ।

स्मरण में पहला है : नामस्मरण । बहुत सरल और सतत किया जा सके ऐसा है तथा लाभ अपरंपार । जाप की महिमा जगत प्रसिद्ध है । इससे मन-वचन-काया तीनों

पवित्र बनते हैं। अतीत-वर्तमान-भविष्य तीनों भव निर्मल बनते हैं । अतीत भव निर्मल अर्थात् वो इस प्रकार कि हमारे पूर्वभव के कई पापों का और कुसंस्कारो का नाश होता हैं । बस; समय मिले तब एकांत स्थान में बैठ कर, एकाग्र मन से प्रभु का नाम रटण करना; और बाकी समय उठते-बैठते, कोई कार्य करते भी प्रभु का नाम का स्मरण अजपाजप जैसा हो जाये, पर वो शून्यचित्त से नहीं । पंच परमेष्ठी का स्मरण भी ऐसे ही सिद्ध करें ।

इस स्मरण के साथ हृदय में संवेग-वैराग्य की लहरें उछलती रहनी चाहिये ।

- **मोक्ष और धर्म पर अटूट प्रेम; यह संवेग है, और**
- **इन्द्रियों के विषयों तथा उसके जड साधनों, लक्ष्मी वगैरह पर अनास्था, भय, उद्वेग; यह वैराग्य है ।**

यह वैराग्य और संवेग सतत जागृत रहने चाहिये ।

(11) परलोकदृष्टि, पापभय, निंदा - पश्चात्ताप, असंग :

विचारक्षेत्र में दूसरा भी एक जीवन है, जहाँ अधिकार आजमाने की खास जरूरत है; वो है परलोक दृष्टि और पाप के भय वगैरह ।

परलोकदृष्टि यानि वर्तमान जीवन जीते हुए भी केन्द्र स्थान में परभव पर ही दृष्टि रहे यानि हमेशा परलोक का विचार जागृत रहे । 'यहाँ ऐसा करने से भवान्तर में क्या फल मिलेगा ? क्या परिणाम मिलेंगे ?' इसका विचार मुख्य तौर पर रहे । वैसे ही 'पैसा-नफा या मौज-शौक भले ही कम मिले या उनको नजरअंदाज कर ले, पर मेरा परलोक न बिगडे ये खास संभालना हैं' यह है परलोक दृष्टि ।

परलोक दृष्टि किस लिए ? इसलिए कि 'वर्तमान जीवन और उसके रंग और राग आदि तो आये और गये जैसे है, पर परलोक तो दीर्घ काल तक रहने वाला है । यहाँ सुख-सुविधा और हुकूमत भोगना; ये तो क्षण भर के लिए है, जब कि उसके पीछे के दारुण विपाक भविष्य में दीर्घकाल तक भोगने पडेंगे । तो ऐसे क्षणजीवित,

अल्पजीवी भोगो में क्यों आसक्त बन जाना चाहिये ? क्यों उसकी गुलामी करनी चाहिये ? यहाँ भी क्या ये बहुत शांति देते है ? इसलिए परलोक न बिगड़े, परलोक उज्ज्वल बने; ऐसे कार्य में लग जाऊँ, यह परलोक दृष्टि है ।

यह परलोक दृष्टि सलामत रखने के लिए (i) पाप का भय, (ii) पाप की निंदा, (iii) पाप का पश्चात्ताप और (iv) पाप के संग का त्याग होना चाहिये ।

(i) मन में यह भय रहना चाहिये कि पाप भयंकर जहर है ! गलती से भी कभी पाप में फँस ना जाऊँ ! कही मैं पाप की पकड में ना आ जाऊँ ! पाप यानि राक्षस ! पाप यानि दावानल ! पाप अर्थात् पाताली कुँआ ! जिसमें 'गिरना' का अर्थ होता है : मृत्यु !

(ii) ऐसे पापभय के साथ पाप की भयानकता, आत्महित नाशकता आदि पर पाप की इतनी निंदा मन में उत्पन्न हो जाये कि नये पाप आ कर हमें ना फँसा पाये ।

(iii) वैसे ही जो पाप हमसे जाने-अनजाने हो गये हैं, उनका भारी पश्चात्ताप हो, जिससे उसका ममत्त्व, उसका अनुबंध, उसके कुसंस्कार और अनुमोदन का भी नामों निशान ना रहें ।

(iv) पाप का भय, निन्दा और पश्चात्ताप की भूमिका में प्रवेश होने के बाद चौथा गुण सहज प्राप्त होता है : पाप का असंग । पाप का असंग अर्थात् मन में से पाप की पकड छूट जायेगी । प्रतिज्ञाबद्ध पाप त्याग हो सकेगा एवं कई व्रत-नियमों का पालन भी सहजता पूर्वक कर पाओंगे । गुणस्थानक की वृद्धि होती जायेगी.. तब तो स्वप्न में तो क्या, कल्पना में भी पाप का संचार तक ना हो । ऐसा जीवन पुरुषार्थ से ही सार्थक है, इसीलिए इस पर अपना अधिकार है ।

शुभ विचार के क्षेत्र में बहुत बातों पे विमर्श किया । यह सब जीवन में संभव हो इसके लिए आखिर तो ध्यान इतना ही रखना कि फिजुल के विचार, असंभव (अशक्य) के विचार और बिगड़ी हुई बातों के विचार मन से निकाल फेंके ।

जो विचार निष्फल ही जाने वाले है, जो विचार अमल करने लायक ही नहीं और बिगडी-सुलझी वस्तु के जो विचार करते रहने से सुधरने वाला तो कुछ भी नहीं, तो वैसे विचारों को मन में स्थान ही क्युं दें ?

इन्हीं विचारों से मन की शक्ति क्षीण हो जाती है, सत्त्व का नाश होता है, जीव व्यर्थ ही चंचल या उद्वेगभरा बनता है, अच्छे विचार स्थिर नहीं रहते । क्या फायदा इनका ? इसलिए ऐसे अयोग्य विचार की आदत ही कम कर के, पहले बताये शुभ भावों से हृदय को खचाखच भर देना । ऐसे जीवन पर हमारा पूर्ण अधिकार है ।

अंजनासुंदरी के जीवन की बात करने से पहले बाह्य और अभ्यंतर तथा शुभ आचार एवं विचारमय जीवन पर होने वाले अधिकार के बारे में ठीक-ठीक विचार किये । ये बहुत ही मननीय है । बार-बार मननीय है । अब संक्षेप में इस महासती के जीवन को देखे कि वहाँ कौन से अधिकार उन्होंने आजमाये है ।

५ अंजनासुंदरी का जन्म

अंजनासुंदरी के जीवन का आलेखन करते हुए कहते है कि उस में मुख्य शीलगुण था । उसने अपना अधिकार शीलगुण पर रखा था । युं तो शीयल ही नहीं, आपत्ति में सत्त्व, कुलमर्यादा का पालन, छोड देने वाले पति पर भी बहुमान वगैरह कई गुणों पर उसने अपना अधिकार रखा । कवि मुख्यरूप से उसके शीलगुण का गान करते है । महासतियों के गुणगान करने बैठे, तो कई दिन गुजर जायेंगे ! उसे याद करने में भी अद्‌भुत आनंद एवं प्रेरणा मिलते हैं ।

भरत क्षेत्र में समुद्र के पास दंती नामक पर्वत पर महेन्द्रपुर नगर है । वहाँ महेन्द्र नाम का विद्याधर राजा और उसकी हृदयसुंदरी नाम की रानी है । राजा के अरिदमन वगैरह सौ पुत्रो पर हृदयसुंदरी रानी से एकलौती पुत्री का जन्म हुआ; जिसका नाम रखा अंजनासुंदरी ।

देखो; एकलौती पुत्री पर कितने प्रेम, सम्मान बने रहते है; फिर भी आखरी अवसर पर तो इन्हीं के हाथों उसका तिरस्कार होनेवाला है ! कर्म के खेल विचित्र है !

अभी तो ये सबकी लाडली है, विशिष्ट पुण्यशाली है, विद्या-कला वगैरह में अव्वल और अप्सराओं को भी पीछे छोड दें; ऐसे रूप-लावण्य वाली देह की स्वामीनी भी है । युवानी में प्रवेश करते ही उसके पिता को पुत्री-विवाह की चिंता सताने लगी कि, 'इसके रूप और गुणों के योग्य वर कैसे मिलेगा ?' इसके लिए मंत्रीयों के साथ विचार-विमर्श करते है ।

दो दूल्हा :

मंत्री देश-विदेश विश्वास-पात्र दूत भेज कर, हजारों विद्याधर युवानों के चित्र मंगवाते है । उसमें दो चित्र विशेष पसंद आते हैं :

- एक है विद्याधर राजा हिरण्याभ और रानी सुमनाकुक्षी के पुत्र विद्युत्प्रभ का;

- दूसरा है वैताढ्य पर्वत पर आदित्यपुर नगर के विद्याधर राजा प्रह्लाद और उसकी प्रिया केतुमती के पुत्र पवनंजय का ।

युं तो दूत अपनी अपनी खोज से लाये चित्र वाले राजकुमारों के रूप और कला के सारे गुण गाते हैं । सभी को अहंभाव होता हैं कि मैंने जो खोजा, ढूँढा वो लाख टके का है, पर यहाँ तो अनेक की खोज परख में से विद्युत्प्रभ और पवनंजय; दो राजकुमारों कुल, रूप, कला और पराक्रमादि गुणों में सबसे आगे थे । अब प्रश्न यह है कि दोनों में से किसे पसंद करें ?

राजा के प्रश्न पर मंत्री कहते है : 'महाराज ! यह विद्युत्प्रभ के लिए निमितज्ञ ने पहेले ही कहा है कि ये इसी भव में केवलज्ञान पा कर मोक्ष में जाने वाला उत्तम जीव है, पर इसका आयुष्य मात्र अठारह साल ही है । जबकि पवनंजय दीर्घ आयुवाला है, बाकी इसके मोक्ष वगैरह के बारे में कुछ सुनने मे नहीं आया ।'

देख लो; ये वो काल है, जहाँ मोक्षगामी और चारित्री जीवों के बारे में बहुत बहुमान है, पूज्यभाव और आकर्षण है । परन्तु मंत्री कहते है : 'महाराज ! अंजनासुंदरी के लिए दीर्घ आयुवाला पवनंजय पति ही ठीक है ।'

कोई भी संसारी की दृष्टि की पहुँच कहाँ तक ? संसार अखंड चलना चाहिये; यहीं तक ना ?

आपको ऐसा ही लगता होगा कि, 'क्या 18 वर्ष के आयुष्य वाले के साथ विवाह करके अंजना को विधवा बना दें ?'

विधवा होने की कल्पना शीघ्र आई, वैरागी होने की नहीं ? :

पर यह विचार करना क्युँ भूल जाते हो कि 'अंजनासुंदरी इतनी कम आयुष्य वाले परंतु केवलज्ञान पाने वाले के संपर्क में आकर खुद भी केवलज्ञान या चारित्र नहीं पायेगी ?' बस, विधवा हो जाने की कल्पना जल्दी आ जाती है, वैरागी होने की नहीं !

राजुल का क्या हुआ ? पति ऐसे मिले की तोरण तक आकर लौट गये, फिर भी राजीमती इसी कारण तीर गई ना ? पति तीर्थंकर देव के हाथों चारित्र और एक वर्ष में ही केवलज्ञान पा लिया । तब ये खासियत देखों कि मंत्री दीर्घायुषी पवनंजय को पसंद कर रहे है, पर उनको यह खबर नहीं कि इनसे विवाह करने के अगले ही पल से पवनजंय बावीस-बावीस वर्ष तक अंजना के सामने भी नहीं देखेगा ।

फिर भी आप कहोंगे : 'जो हो सो हो, पर जानबुझ कर कुँए में कैसे उतारें ?'

बुद्धिमत्ता पर अधिकार :

बस ! एक ही दृष्टि रखते है कि अपने लिए और अपने पर आश्रितों के लिए संसार सलामत रखें । सब विचार मात्र विषयसुख की दृष्टि से ! धन्य आपकी मानवभव की महंगी बुद्धिमत्ता को ।

इस बुद्धिमत्ता की किमत समझते हो ? खबर है आपको कि कैसे लाखों पुण्य कमा सके ऐसी बुद्धि के खजाने पर अधिकार मिला है ? किमत ना समझें, वहाँ क्या होगा ? बाकी तो आपको ऐसी सुंदर बुद्धि शक्ति मिली है कि बाहरी संयोग चाहे जैसे भी हो, परंतु उदार और उत्तम कोटि की विचारधारा, उत्तम भावनाओं और तत्त्वचिंतन, नवकार मंत्र और अरिहंतादि महापुरुषों के जीवन स्मरण वगैरह द्वारा

(1) असंख्य भवों के पापों का विध्वंस कर सकोंगे ।

(2) शुभ अध्यवसाय के योग से पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन कर सकोंगे ।

(3) जनम जनम के कुसंस्कारों के चले आ रहे प्रवाह को सुका पाओंगे । खर्च बिल्कुल नहीं और लाभ अपरंपार ।

राजा ने मंत्री का कहा सुनकर पवनंजय को मन से पसंद कर किया । इतने में प्रह्लाद राजा को दूसरे विद्याधर राजाओं के साथ नंदीश्वर की यात्रा पर जाने का अवसर हुआ । विद्याधर होने से हवा में उड कर जाना भी संभव था । बीच में

महेन्द्रनगर आया, विचार किया : 'जिनमंदिरो का दर्शन करें' मिली हुई पुण्यशक्ति का यही सदुपयोग है ।

यह तो अलबेली नगरी है, प्रजा सुखी है । सारे राज्य में आनंद-मंगल है । देवदर्शनादि किये । महेन्द्रराजा ने भी आदर-सत्कार किया, 'पुण्ययोग से मेरे महल में साधर्मिक पधारे है !' ऐसी भावना है उनकी । यही स्वागत-समारंभ स्वजन-स्नेहीजनों के लिए होते, तो मोह पोषक और पापदायी बनते हैं; पर साधर्मिक के लिए है, तो धर्म पोषक और पुण्यदायी बनते हैं ।

प्रह्लाद राजा ने यहाँ अंजनासुंदरी को देखकर अपने पुत्र पवनंजय के लिए प्रस्ताव रखा । राजा ने पवनंजय के गुणगान तो पहले ही सुन लिए थे और मन में लगभग निश्चय भी कर लिया था । 'जो पसंद था; वही वैद्य ने कहा' की तरह सामने से माँगनी भी आयी । माँगनी तो निमितमात्र बनी । राजा ने माँगनी कबूल की और विवाह हेतु रुक जाने को कहा । तीसरे दिन मानस सरोवर पर लग्न निश्चित किया और सब अपने-अपने स्थान पर गये । मानस सरोवर पर दोनों पक्ष के परिवारो के साथ दोनों राजा पहुँच गये, विद्या के बल से बडे महल बना कर लग्न का उत्सव शुरू हुआ ।

६ 22 साल के विरह का बीज !

पवनंजय का गुप्त निरीक्षण :

अब यहाँ पवनंजय अपने मित्र से कहते है : 'अरे भाई ! अंजनासुंदरी को देखा है ? कैसी है वो ?'

मित्र प्रहसित कहता है : 'हाँ, देखी है । वो बहुत ही रूपवती है । दूसरी कन्याओं को तो क्या, रंभादि देवांगनाओं को भी भूला दे; ऐसी रूपवती है । उसका रूप जो नजर आता है, वो बडे से बडा कवि भी वाणी से वर्णन नहीं कर पायेगा, ऐसा अद्वितीय रूप !'

पवनंजय यह सुनकर उसे देखने को उत्कंठित हो गया और कहता है : 'तो उसे देखे बिना तीन दिन का समय कैसे व्यतीत होगा ? प्रिया की विरह में तो एक घडी भी बडे दिन जैसी लगती है । दिन बडे महिने जैसा ।' उसे तो बस लगन लगी ।

मित्र प्रहसित कहता है : 'अरे ! तुं मर्यादा जानता है की नहीं ? वो कहीं भागनेवाली नहीं है । तुझे ही मिलनेवाली है । फिर भी तेरा मन है, तो चल; रात्री में गुप्त रीत से जायेंगे ।'

मित्र प्रहसित और पवनंजय राजकुमार रात्री को अंजनासुंदरी के महल पर सातवीं मंझिल पर गये । बाहर से छत पर खडे रह कर गुप्त रीत से देखा, तो पवनंजय उस रूप के अंबार को देख कर मुग्ध हो गया कि 'इस जगत में ऐसी रूपवान स्त्री भी हो सकती है ? ये पुतली तो नहीं ना ? नहीं, सच है, हँसती है, खेलती है ।'

देखना विधि के खेल को ! पूर्व घडी में कुछ ओर कल्पना और दूसरी ही घडी में दूसरी ही कल्पना । विधि के खेल ऐसे वक्र और विचित्र है कि आज हाथी पे चढाता है और फिर गधे पर बिठा देता है ! वरघोडा बगीचे से चढावाकर उकरडे पर

उतरावाता है ! अभी तो पवनंजय रूप देखकर मंत्रमुग्ध बन गया है, पर वही थोडी ही देर में मन कैसे पलटी लेगा ? इसकी उसको भी खबर नहीं ।

यहाँ अंजनासुंदरी के पास दो सखीयाँ बैठी है : एक वसंततिलका और दूसरी मिश्रका ।

पहली सखी अंजना से कहती है : 'धन्य है तुझे कि पवनंजय जैसा पति मिला ।'

ये सुनकर मिश्रका सखी उसका विपरीत जवाब देती है : 'अरे ! कहाँ विद्युत्प्रभ और कहाँ पवनंजय ? चरम शरीरी विद्युत्प्रभ को छोड के दूसरा कौन सा वर प्रशंसा योग्य है ?'

वसंततिलका कहती है : 'भले ही मोक्ष जाने वाले है, पर आयुष्य कितना ? तुं तो भोली है भोली, ऐसी छोटी आयु वाले पति क्या हमारी स्वामिनी के योग्य है ?'

इस पर मिश्रका बोली : 'अरे ! मेरी बहना ! तेरी बुद्धि कितनी मंद है ! अमृत तो थोडा हो, तो भी अच्छा और विष के तो ढगले भी व्यर्थ है ।'

देखो, ये भी संसारी ही है और स्त्री है, फिर भी दृष्टि कितनी ऊँची ! मोक्षगामी याने अमृत है ! और संसार प्रवासी याने विष है । सखी को साध्वी नही बनानी, फिर भी संबंध जोडना है महागुणसंपन्न आत्मा के साथ । मानव जीवन अर्थात् क्या ? भोग का खेल नहीं ! गुणिजन के संबंध से विकसती गुणमय अवस्था !

पवनंजय का गुस्सा :

इस प्रकार मिश्रका तो बोलते बोल गई, पर पवनंजय बात सुनकर क्रोधाविष्ट हो गया । उसे लगा : 'अरे ! ये क्या बात ? अंजना इसे रोकती भी नहीं ? लगता है कि वह भी इस बात से सहमत है, तो ऐसी पतिद्रोही को एक ही प्रहार कर के मार डालुँ । लगता है इसने मुझे हृदय से अपनाया नहीं और इसके मन को तो विद्युत्प्रभ ही पसंद है; इसीलिए यह सखी बिना रोक-टोक मुझे विष सम बोल रही है ना ?' बस, उसने तो अंजना को मारने के लिए तलवार निकाल ली ।

मोह की विडंबना और अज्ञान की विडंबना कैसी उल्टी दृष्टि देती है ! जहाँ अधिकार नहीं, वहाँ अधिकार पाने की कोशिश । हमारे विचारों से यदि कोई विपरीत विचार करे, तो क्या उसे इस प्रकार मार डालने का अधिकार चलाना चाहिये ?

- प्रदेशी राजा के विचार बदल गये, वह नास्तिक में से आस्तिक बन गये; इसीलिए उसकी ही प्राण प्यारी रानी सूर्यकान्ता ने उसे जहर दे दिया ।
- रुद्रदेव ने वैरागी बनी पत्नी सोमा को सर्प से डसा कर मरवा दिया ।

कैसा संसार है ये ! पवनंजय भी अज्ञान की राह पर चल पडा ।

अज्ञानी जीव ऐसे अज्ञान के अंधेरे में भटकता है कि सच्ची वस्तु को भी विपरीत ही देखता है । परिणाम स्वरूप खराब फल पाता है । वस्तु को उसके स्वरूप में नहीं देखने से उसके पीछे अनर्थ की परंपरा चलती है । धर्म जैसा धर्म हाथ में पाकर भी खो जाता है ।

अज्ञान के कारण मान बैठता है कि चौबिस घंटे दौडता रहुँगा, तो पैसे मिलेंगे । मानता है कि 7 बजे चाय, 8 बजे नास्ता, 9 बजे इन्जेक्सन... ऐसे संभालने से शरीर स्वस्थ रहेगा । बस, इसमें फिर धर्म कहाँ है ? आत्मा की लेश्या ही उड गई, फिर तो केवल जड की चिंता में ही जीवन जीया जायेगा । इस बात की खबर भी नहीं कि इस पर तेरा अधिकार नहीं है । फालतु ही चेष्टा और प्रयत्न है । पुण्य के हिसाब से सब चलने वाला है ।

अज्ञानता के कारण वस्तु स्थिति उलट जाती है और इसलिए मानता है : 'मैं ध्यान रख रहा हुँ, तो ठीक-ठीक चल रहा है । धर्म में बैठा रहा, तो सब बिगड जायेगा ।' कहाँ ख्याल है कि पुण्य के बिना कुछ होता नहीं । ठीक चल रहा है, ये पुण्य के ही कारण चल रहा है, नहीं तो सत्तर प्रकार से ध्यान रखें, तो भी उल्टा हो जाता है ।

सस्ता क्या ? वस्तुओं को सुधारना या मन को सुधारना ? :

पवनंजय की दशा भी ऐसी हो गयी । बस, अंजना को मार डालूँ । स्त्री तो समझों एक घड़ा है ! न पसंद आया, तो फोड देना चाहिये ! कैसी क्रूर जोहुकमी ? समझो उसे मार ही डाले और फिर दूसरी स्त्री मिले, वो भी ऐसी ही हो तो ? क्या उसे भी मार डालना चाहिये ? ऐसे कितनी स्त्रीयों को मार डालतें फिरोंगे ? फिर भी शांति मिलेगी ही; ये पक्का है क्या ? नहीं ।

मनुष्य ऐसे ही मन बिगाड कर गलत विकल्प कर बैठता है; और सामने वाली वस्तु को सुधारने दौड पडता है । इससे सस्ता तो ये है कि पहले से खुद का मन ही सुधार ले, तो फिर सामने वाली वस्तु अप्रिय नहीं लगने से कोई सिरदर्द ही नहीं होगा, कोई दुष्कृत्य आचरने की जरूरत ही नहीं, कोई लडाई-झगडा ही नहीं, और महा शांति । नयी नयी मनपसंद वस्तु लेने जाने जाते हुए भी मन में सुख-शांति की शंका तो रहती ही है ना ? इसके बदले जो मिला है, उसी में पहले से ही मन को मना ले, तो निश्चित ही शांति मिलेगी ।

कल्याण मित्र रोकता है :

रात्री के अंधेरे में पिशाच की तरह पवनंजय यकायक तलवार लेकर तैयार हुआ और गुस्से में बोला : 'जिन दोनों के मन में विद्युत्प्रभ बसा है, आओ; उनके सिर को काट डाँलु ।'

पर जब वो रोष से धमधम करता आगे बढने लगता है, तभी प्रहसित उसका हाथ पकड कर उसे रोक देता है और कहता है : 'अरे मित्र ! स्त्रियों का अपराध हो, तो भी वो गाय की जैसे अवध्य है, मारने योग्य नहीं । क्या तुझे इतनी भी खबर नहीं है ? यह अंजना तो निरपराधी है, इसके मन में तेरे लिए कोई दुर्भाव नहीं या हल्का भाव भी नहीं, मात्र शरम के मारे अपनी सखी की बातों का निषेध नहीं करती । सखी तो कुछ भी बोले, उसमें खुद के ही मुख से पति के गुणगान अंजना कैसे कर पायेगी ? तुं इतना भी नहीं समझता ? बस, खडा हो गया परायों के

महल में ऐसा अकार्य करने के लिए, और वो भी शादी के पहले ! म्यान में डाल तलवार और भ्रान्ति दूर कर ।'

सत्त्व और होशियारी की चावी :

दुन्यवी मित्र ने कल्याणमित्र का काम किया और उसे रोका । फिर दोनों वापस लौट अपने आवास पर आ गये, परंतु पवनंजय के दिल में डंख रह गया, इसलिए मन वश में ही नहीं रहा था । मन में बस ये ही भ्रमणा रह गई थी कि अंजना को मेरे पर प्रेम ही नहीं है, तो पूरी जिंदगी कैसे कटेगी ? बस, चिंता में घिरा पुरी रात दु:खी हो कर जागरण करके काटी ।

अज्ञान और खुद की होशियारी मानव को कितना दु:खी करती है ! कैसे हल्के विचार की दुर्दशा में सुलगाती है ! दु:ख और दुर्दशा वास्तव में अपने हीं हाथों से हम ही खडी कर देते हैं । अहंभाव के आधीन हो कितनी ही गलत कल्पनाएँ हम कर बैठते हैं, फिर तो शोक और संताप की ही वृद्धि होगी ना ? दूसरा होगा भी क्या ?

सत्त्व और समझदारी की कमी के कारण ही ऐसा होता है, वरना तो मन तुरंत ही विचार कर लेता कि 'चिंता मत करो ! शायद सामने वाला मानव अभी वास्तव में प्रेम नहीं करता, पर मेरे योग्य बर्ताव और समझदारी से, यह धीरे-धीरे ऐसे प्रेम में जुड जायेगा कि इसे अपने पूर्व के किये व्यवहार पर पश्चात्ताप महसूस होगा । ऐसी परिस्थिति मैं जरूर बना पाऊँगा !' इस प्रकार सत्त्व और समझदारी से कल्पना और उसके पीछे उठने वाले शोक-संताप एवं दुर्दशा के लिए जगह ही नहीं बचती है ।

पवनंजय का मन यह समाधान नहीं कर सकता और व्यर्थ की गलत भ्रान्ति में खो जाता है, इस कारण रातभर को नींद नहीं आती और सुबह होते ही वो प्रहसित से कहता है :

'दोस्त ! अंजना के साथ विवाह करके क्या करना है ? एक नौकर भी जो विरक्त हो, प्रेम बिना का हो, तो आपत्ति रूप होता है फिर पत्नी की तो बात ही क्या करनी ? इसलिए चल जल्दी से, हम हमारे अपने नगर चले जाते हैं । स्वादिष्ट भी भोजन आत्मा को पसंद ना आये, तो क्या करना ?'

पवनंजय आवेश में है, भ्रम में है; बस, इतना ही ! बाकी तो जो यह दृष्टांत बताता है; वह सत्य ही है । क्योंकि नौकर यदि सेठ के प्रति विरक्त हो, जरा भी प्रेम और समर्पण न हो, तो उसका भरोसा नहीं कि वो कभी भी दूसरे के प्रेम के वश, इस सेठ को आधे रास्ते पर ही छोड देगा भटकने के लिए यानि कभी भी द्रोह कर सकता है ।

हम भी प्रभु के सेवक ही है, पर यदि प्रभु के प्रति प्रेम व समर्पण ना हो, तो दुनियाँ की दूसरी बातों की खातिर अवसर आने पर प्रभु को भी छोड देते है; ऐसा होता है ना ? परमपिता परमात्मा को भी छोड देने के अवसर आते है ना ? हाँ, प्रेम ना हो, तो ऐसा हो जाने में कोई नयी बात नहीं । प्रेम की बलिहारी है सब । प्रेम हो, तो भी सेवा के कार्य कम-ज्यादा होना संभव है; अर्थात् कम-ज्यादा चल सकता है, क्षम्य है । पर यदि सेवा पूरी करें किन्तु प्रेम थोड़ा भी नहीं, या तो कम है, तो नहीं चल सकता, अक्षम्य है । इसीलिए मुख्यत: नीव में प्रेम होना आवश्यक है ।

पर प्रेम भी स्वार्थवाला नहीं, बल्कि शुद्ध प्रेम चाहिये । स्वार्थी प्रेम तो उधार दिये हुए पैसों जैसा होता है । वक्त पर सामनेवाले से बदले में माल या रकम न मिले, तो दिल को धक्का सा लगता है कि 'हाय ! इस पर मैंने प्रेम क्यों किया ? इसने तो प्रेम के बदले में कुछ भला नहीं किया !' वह प्रेम के बदले अब द्वेष करेगा । यह है स्वार्थी प्रेम का परिणाम ! इसी कारण प्रेम विशुद्ध होना चाहिये, सौदे वाला नहीं । आजकल ना ऐसे प्रेम के पाठ है, ना अभ्यास और ना ही अनुभव; इसीलिए घरघर में क्लेश है ।

पवनंजय प्रेम पर विश्वास करके ऐसी रूपवती अंजना से विवाह करना छोडकर वहाँ से चले जाने की इच्छा करता है; इसमें उसकी मात्र गलती इतनी है कि वो एक भ्रम में है ।

भ्रम यानि भ्रान्ति की भयानकता :

देखो; भ्रान्ति के परिणाम कितने भयंकर होते है !

- वेदान्त दर्शन कहता है : 'शुद्ध ऐसा परम आत्मा भी भ्रान्तिवश जीवात्मा बन दु:ख पाता है ।'
- जैनदर्शन कहता है : 'जीव विषयों में सुख समझने की भ्रान्ति के कारण संसार में जन्म-मरण आदि भयंकर दु:ख अपने ही हाथों पाता है ।'

भ्रम से गलत व्यापार करके ही तो व्यापारी कंगाल बन जाता है ना ? तो जीव भी भ्रमणा में ही धर्म कल्याण के बदले पूरे संसार की रामायण सिर पर ले कर दु:खी बनता है ।

प्रहसित के द्वारा दी गई भव्य शिक्षा :

पवनंजय भ्रम में है । घर जाने के लिए एकदम तैयार हो कर जैसे ही चलने लगा, वहाँ प्रहसित ने आकर उसे पकड कर शांति से समझाया । कहता है :

'महान पुरुषों को तो खुद के वचन को तोडना भी शोभा नहीं देता, तो माननीय वडीलों और बुजुर्गो की कही बातों को टालने का तो कहना ही क्या ? हमारे बडे किसी चीज का मूल्य लेकर बेच दें या अगर महेरबानी से भेंट कर दें, उसे भी सज्जन लोग मान्य कर लेते हैं ।'

कितनी सुंदर शिक्षा ! अधम पुरुष और उत्तम पुरुषों में फरक क्या ? यही कि अधम पुरुष कोई भी जवाबदारी बिना विचार किये लेता है, उसे निभाने में आनाकानी करता है । जबकि उत्तम पुरुष हर जवाबदारी विचारपूर्वक उठाता है और उठाने के बाद उसे पूर्ण रूप से अदा करता है । उसे निष्ठापूर्वक निभाता है ।

अधिकार जवाबदारी उठाने में आजमाने के बदले उसको निभाने में आजमाने जैसा है । मन में ऐसा रहना चाहिये कि 'मैं क्युं इसे छोडुं ? इसे अवश्य ही पूरा करने का हक निभाऊँगा ।' उत्तमता प्रतिज्ञा पालन में है, महत्ता जवाबदारी को उठाने में है । उत्तम कुल में जन्म लेने वाले को ये ख्याल ना आ सके, तो उसका महत्त्व भी क्या ?

सतियों के दृष्टांत इसमें प्रेरक है । पति जैसा भी निकले, पर सती उसे बदलने का या छोड देने का विचार भी नहीं करती । अबला कहलाने वाली नारी में ये सत्त्व होता है, तो पुरुषों में कितना सत्त्व होना चाहिये ? खानदान कुल में जन्म लेने वालों का तो ये कुलगुण ही होता हैं कि सिर्फ खुद ही की नहीं, पर बुजुर्गो की निश्चित की हुई बात हो, तो भी उसका अमल सही प्रकार से हो जाये; यह जवाबदारी भी खुद के सिर पर ले लेते हैं । फिर चाहे पूर्व बुजुर्गो की दी हुई जायदाद में से भी कोई चीज बेच दें अथवा भेंट कर दें, तो भी संतान उसे तथास्तु कह देते हैं ।

दशरथ ने जब राजगद्दी भरत को सौंपी, तो रामचन्द्रजी ने इस बात को सहर्ष स्वीकारी; वो भी इस हद तक कि भरत राजगद्दी के लिए ना कह रहे थे, तो भी राम ने पिता का वचन अखंडित रहे, टूट ना जाये या मिथ्या ना हो, इस खातिर भरत को मजबूर कर राजगद्दी पर बिठाया ।

यह है आर्यसंस्कृति की यशोगाथा ! जहाँ परिणाम रूप यह होता है कि खुन की नदियाँ बहने के बदले कई जनकल्याण के कार्य किये जाते है ।

कुलीन की मर्यादा :

प्रहसित ये समझाते हुए आगे कहता है : 'ओ पवनंजय ! जिस लग्न को बडों ने अंजना को सामने से माँग कर निश्चित किया है, उस लग्न को तुं अंजना को अपराधी समझकर नजरअंदाज कर रहा है, पर इतना समझ ही ले कि मूल कारण ही गलत है । इस प्रसंग में तो अंजनासुंदरी का जरा सा भी दोष नहीं है । वो तो

भली स्त्री है, निर्दोष है और तुने उस पर यह आरोप लगा कर कितना बडा पाप कार्य किया है, ये जानता है ? मात्र भाग्य के किसी कारणवश तेरा हृदय बदला गया है । बाकी तो, तेरे और अंजना दोनों के माता-पिता जगत में प्रतिष्ठावाले हैं, ऐसे कुल में जन्म लेने के बाद, मेरे भाई ! तुझे इस प्रकार से व्यवहार करते जरा भी शर्म महसूस नहीं होती ?'

'तुझे ये ख्याल नहीं आता कि तुं और वो किनके वंशज हो ? कुलीन व्यक्ति की मर्यादा क्या होती है ? अंजना में यह सब घटे, इसकी तो संभावना भी नहीं, और तुझे भी इस तरह मन:कल्पना से इस विवाह को छोडकर चले जाना शोभा नहीं देता । यदि ऐसा कुछ भी हुआ तो तेरे पिता की कितनी अपकीर्ति फैलेगी ? लोग कहेंगे कि : 'देखा ? कैसे उद्धत पुत्र का पिता है ! पुत्र को न जाने कैसे संस्कार दिये होंगे !'

प्रहसित ने इस प्रकार बहुत मूल्यवान सलाह दी । यहाँ नये जमाने के लोगों को शायद यह प्रश्न होगा कि,

प्रश्न : यह तो जबरदस्ती है, इसके बदले पवनंजय के मन की रुचि अनुसार संबंध तोडने की बात स्वीकार की गई होती, तो पीछे होने वाले कटु प्रसंग तो ना बनते ?

उत्तर : गहरे विचार किए बिना ही पूछा गया यह प्रश्न है । क्योंकि,

(i) भविष्य में जो होता है, वो तो अवश्य होगा ही । उसके लिए यह नहीं, तो शायद कोई ओर निमित्त उपस्थित होकर होने वाला कार्य तो होकर ही रहता है । और दूसरी बात;

(ii) यह होने वाला है; यह खबर भी तो पहले से नहीं होती ।

अत: उसका सामना करने के लिए इस वक्त कुछ भी अयोग्य आचरण करने में समझदारी नहीं है, वरना तो उसकी भडास खुद के अपने और दूसरों के जीवन पर भी निकलेगी । फिर तो खुद स्वच्छंदता के दूसरे कई आचरण करने को प्रेरित होंगे

और दूसरे लोग भी ऐसे स्वच्छंदता के कारण न करने जैसे कार्य-अकार्य कर बैठेंगे । इसलिए राह याने राह, उचित याने उचित ! बस, हो गई बात खतम । उसका भंग नहीं हो सकता ।

हमारे बडे यदि नि:स्वार्थ भाव से अपनी दीर्घदृष्टि और तजुर्बे का उपयोग करके अपनों के लिए (उन पर आश्रित) कोई हित-प्रवृत्ति करें, तो छोटों को उसे सहर्ष अपनाना चाहिये । वह अपनाने के बाद भविष्य में यदि कोई कष्ट आ जायें, तो उसमें अपने पुण्य की ही कमी माननी चाहिये, जो होने वाला है, वो होकर ही रहता है; ऐसे भाव रखना चाहिये और इसे परीक्षा की घडी समझनी चाहिये ।

जीवन पर अधिकार तो इस सत्त्व को बरकरार रखने के लिए रखना चाहिये कि 'योग्य राह पर चलकर जो होना हो, वह हो जाये, इसके परिणामों को भोग लेने की मेरी पूर्ण तैयारी हैं, परंतु मेरी प्रतिज्ञा और मेरे बडें बुजुर्गो की योजनाओं का उल्लंघन तो मैं हरगीज ना करूँ ।'

७ अंजनासुंदरी का विवाह

पवनंजय का रुकना : शल्य की भयंकरता :

प्रहसित द्वारा समझायी बातें सुनकर पवनंजय उस वक्त तो विचार करके रात्री में रुक गया, पर उसके मन की शंका का निवारण नहीं हुआ और ना ही उसके अंदर से शल्य गया । उसके मन में यह शल्य रह गया कि 'अंजनासुंदरी को मेरे ऊपर प्रेम नहीं है, वो मुझे पसंद नहीं करती है ।' यह शंका कैसा भयानक रूप लेती है, वह तो आगे पढते-पढते समझ में आयेगा ।

शंका अंधी होती है । इसके कारण हम सब भूल जाते है, अरे ! आगे चल कर तो कई अघटित प्रसंग का सृजन कराती है ।

ज्ञानीयों ने तो दुनियाँदारी के सुख-साधनों के भी शल्य अर्थात् नियाणा रखने का निषेध बताया है । मन में यदि बैठ जाये कि मुझे यह बल, यह वैभव, यह सत्ता वगैरह चाहिये ही; ये भी शल्यरूप है । इसकी भयानकता ऐसी है कि इसका लक्ष्य रखकर किया गया धर्म कार्य भी जहररूप बनता है, दीर्घ दुर्गति का सर्जन करवाता है । तब वैर का, दुश्मनी का, ईर्ष्या का, दूसरों को ही दोषित देखने का शल्य... इनका तो फिर पूछना ही क्या ? जो कि दिखते ही अप्रशस्त है ।

अग्निशर्मा इसी कारण से अनंत संसार में भटका ! कमठ पार्श्वप्रभु को इसी कारण ही दस दस भवों तक सताने वाला बना ! ये शल्य दुनियाँ के कोई विशेष लाभ तो नहीं ही देता, पर ऊपर से निरंतर दुर्ध्यान, गुणानुराग का नाश, हार्दिक सरलता का अभाव, निंदा, क्रूरता वगैरह कई आत्मिक अनर्थ खडे कर देता है ।

विवाह के बाद पवनंजय सामने भी नहीं देखता :

खैर ! यहाँ तो धारे हुए तीसरे दिन विवाह प्रसंग पूर्ण हुआ । राजा महेन्द्र ने खूब सत्कार के साथ अंजना को विदाई दी । अंजना ससुर प्रह्लाद वगैरह के साथ पति

के घर आयी । सास के पैर छु कर जो भी लायी थी अपने साथ, सब सासु को अर्पण कर दिया । ऐसी बहु किसे पसंद ना आयेंगी ?

इतनी अच्छी पत्नी मिली थी, पर पवनंजय ने गांठ बाँध रखी थी । हृदय में स्नेह ना हो, तो आँखों में भी नहीं आता और इसके बिना बातों में भी स्नेह दिखता नहीं । ससुरजी ने तो अंजना को रहने के लिए अलग सात मंझिला महल ही दे दिया है, नौकर-चाकर सब दिये, पर पवनंजय तो विवाह करने के बावजूद भी अंजना के महल की सीढियाँ तक नहीं चढता । जब वो नहीं है; तो उसके सिवा बाकी सब धूल बराबर है । क्युँ सही ना ? 'हाँ' कहते हो, पर साथ ही यह नहीं होता कि -

धर्म बिना बाकी सब कितना भी हो, पर वो धूल समान ही है ।

- हृदय में अरिहंत प्रभु के प्रति उछलती भक्ति ना बसी हो, तो बाकी सब धूल जैसा है; ऐसा लगता है ? समकित दृष्टि को तो परमात्मा की कृपा मिलने के बाद सारा संसार धूल बराबर लगता है ।
- आपको शायद ऐसा न भी लगे, संसार मालवाला लगता होगा, बंगला, बगीचा, प्रिय पत्नी, समझदार बेटा, सुख भरा खानपान - मान - सन्मान; सब अच्छा लगता होगा, परंतु जीवन में जो वीतराग के अनमोल धर्म की आराधना नहीं कर सकता, अथवा थोडी आराधना करता है, परंतु ज्वलंत आत्मचिंता की जागृति नहीं मिली तो बाकी सब धूल बराबर है; ऐसा लगता है ?
- शास्त्र तो यहाँ तक कहते है कि वैभव-विलास ही नहीं, पर दान, शील, तप वगैरह धर्मक्रियाएँ भी धूल बराबर है, यदि अंतरात्मा में मैली लेश्या और मैले परिणाम हो, शुभ परिणति, शुभ अध्यवसाय नहीं हो !

जबकि सही जीवन का अधिकार तो इस शुभ परिणति पर आजमाने का ही है । सारी की सारी धर्म साधनाओं द्वारा यह परिणति जगानी है । इतना समझना है कि

सबका स्नेह बरस गया, पर वीतराग प्रभु की कृपा में ना भीग पाया, तो सब व्यर्थ ही है !

काव्य का समन्वय किस प्रकार करें ? :

कवि अपनी भाषा में प्रभु को पुकारते है, फरियाद करते है कि 'चुप्पी क्यों साध रखी है ?' अर्थात् ? यही कि 'हे प्रभु ! आप हमारे साथ बात क्युं नहीं कर रहे ? क्यों हमारे सामने नहीं देखते ?' परंतु पहले कभी हमने प्रभु से मिन्नत की है ? उपर से प्रभु को उपालंभ देते है ? तो ? तो 'चुप्पी...' बोलते हमें हमारे मन को कहना है कि 'प्रभु कहाँ चुप है ? अरे मन ! प्रभु के साथ तुं ही नहीं बोलता ! लाखों (अनमोल) के भगवान मिलने के बाद भी राख जैसी दुनियाँ के पीछे क्युँ मूढ है ? दुनियाँ के साथ हृदय के तार इस प्रकार जोड दिये है कि प्रभु के साथ तार जोडने की जगह ही नहीं बची, फुरसत ही नहीं और परवाह भी नहीं । पहले तुं प्रभु में मिल जा, फिर प्रभु तुझमें आ मिलेंगे ।'

कितने ही स्तवनों के भाव इस प्रकार प्रभु के बदले उलटा अपने उपर घटाने है, तो कुछ जरा सी जागृति आयेगी, चैतन्य प्रगट हो सकेगा वरना तो वर्षो तक बोला करेंगे कि 'चुप क्युं हो' अर्थात् कि प्रभु ने ही रुठ जाने का कार्य किया है, खुद हमारे मन को कुछ करना ही नहीं !

बार बार प्रभु से कहा करे : 'क्यों मेरे सामने नहीं देखते ?' परंतु इसके भाव को यदि ऐसे नहीं लेंगे कि 'हे जीव ! साहेब तो बडे ही दयालु है, सामने देखने को तैयार है, अरे ! देख ही रहे है, परंतु वास्तव में तो तुं साहेब के सामने नहीं देखता है । इतने प्यारे साहेब मिलने के बावजूद भी इस ठगी दुनियाँ के सामने देख रहा है, तुझे शरम नहीं आती ? इतना धिट्ठ, शून्यहृदय और बेकदर कब तक रहेगा... ?' ऐसा भाव जो ना लो, तो कलेजे को स्तवन की चोट कैसे लगेगी ? एक ओर खुद अपना तो ठिकाना नहीं, खुद को तो गरज नहीं, परवाह नहीं और उपर से देव-गुरु से फरियाद कर उन्हीं पर आरोप लगाने है ।

कहते हो ना कि गुरु की कृपा कम है ? कृपा हो तो धर्म होगा । मतलब कि हमें तो धर्म की बहुत ही भूख है, परंतु गुरु कृपा नहीं करते, इसलिए धर्म बिना रहते है, ऐसा ही है ना ? जैसे कि गुरु निर्दय है कि वो कृपा ही नहीं करते !

सही मायनों में तो विचार और कार्य हमें खुद ही करना है । हम कुछ कर सके, इसमें कृपा देव-गुरु की ही रहती है, इसीलिए कृतज्ञ बन अहोभाव माने कि मैं जो कुछ अच्छा कर रहा हूँ, वो सब वीतराग देव की कृपा से, गुरुवर की कृपा से ही कर रहा हूँ । यह न माना तो कृतज्ञता गयी अर्थात् धर्म की उन्नति की मूल नीव भी हिल गई समझो ! देव-गुरु पर अपरंपार श्रद्धा-प्रीति जागे, तो कृतज्ञभाव भी जगेगा और यह तभी होगा जब आपको लगे कि इसके बिना मिला हुआ बाकी सब धूल जैसा है ।

अंजना को बहुत कुछ मिला है, परंतु पवनंजय के प्रेम के बिना सब धूल जैसे लगता है । वो कभी उसकी तरफ देखता भी नहीं है, तो बोलने की तो बात ही कहाँ रही ? जैसे बिना चन्द्र की रात्री अंधकारभरी बनती है, वैसे ही पवनंजय के विरह में अंजना आँसुओ के अंधकार से भर ऊठी है । लगातार अस्वस्थता अनुभव करती है ! बिस्तर पर बार-बार करवटें बदलती है ! जैसे जल बिन मछली तडपती है, वैसी ही तडप इसकी भी है । हर एक रात्री उसे वर्ष सम लगती है । घूटनों पर सिर रखकर बैठी बैठी बस मात्र पति के विचार में ही दिन काटती है ! पर फिर भी पवनंजय उसे कहाँ मिलने वाला है ?

अब देखो कि इन सब में निमित्त कौन बना ? उसकी सखी के वो शब्द ही ना कि 'अमृत थोडा भी अच्छा, विष के ढेर भी किस काम के ?' मनुष्य को बोलते वक्त ख्याल नहीं रहता कि अवसर आने पर इन शब्दों के कातिल घाँव कैसे खतरनाक परिणाम का सृजन कर देगा !

इसीलिए ज्ञानी हंमेशा तोलमोल के बोलने को कहते है : **'हितं मितं तथा तथ्यं'** कल्याणकारी, परिमित और सच बोलो । ज्यादा बोलने से बोलते बोलते बहक जाना

संभव है । कुछ शब्द तो जीवनभर भूलाते नहीं, जीवनभर के वैर खडे कर देते है । ऐसे ही कई आचरण दिखने में तो मामूली से लगते हैं, परंतु परिणाम भयानक लातें हैं । इसीलिए बोलना और चलना बहुत विचार करके करें । आपस में गुप्त बातें करते समय भी किसी का हल्का लगे वैसा न बोलें । हवा के भी कान होते है, फिर बात का बतंगड बनते देर नहीं लगती । इसीलिए अच्छा बोलो और वह भी तोल के बोलों । किसीकी तारीफ करते या अच्छा बोलते किसी दूसरे की निंदा मत करना ।

यहाँ कुछ ऐसा ही हुआ । विद्युत्प्रभ की प्रशंसा तो की, पर साथ में पवनंजय की निंदा भी कर दी, इसलिए बात बिगड गयी; जबकी प्रत्यक्ष में तो स्पष्ट दिखता है कि राई जितनी छोटी सी बात को पर्वत जितना बडा स्वरूप दिया गया है । तो दिखने में थोडे से लगते पाप में से बडा अनर्थ हो तो इसमें कौन सी नई बात ?

महासती का जीवन पर अधिकार :

इतनी परेशानीयाँ होते हुए भी अंजनासुंदरी इतने उत्तम हृदयवाली है कि ये सभी घटनाओं में उसे दोष अपना ही लगता है, पति का नहीं । मन से यही मानती है कि 'इसमें मेरे ही भाग्य का दोष है, नहीं तो ऐसा कुलवान पति क्युँ नहीं बुलाता मुझे ?' बस ! बिना कुछ बोले सिर्फ सहती जाती है, दूसरा कोई बेतुका बेफिजुल का विचार करती ही नहीं कि 'मेरे पिता ने मुझे किस कुएँ में डाल दी ?' 'इसके बदले किसी गरीब के साथ विवाह कर देते तो भी अच्छा होता...' वगैरह वगैरह कुछ भी मन में नहीं लाती ।

बस, इसी का नाम है अभ्यंतर जीवन पर अधिकार । पति अर्थात् स्वामी; उनमें दोष नहीं, दोष तो अपना ही दिखता है । ऐसी परिस्थिति में भी कुशीलता के विचार नहीं और ना ही तिरस्कार इस शादी के रिश्ते पर !

पर चुंकि संसारी जीव है, तो इस घटना से मन दु:खी होता है, पर जीवन पर अधिकार यह कि अंदर की भावना ना बिगडे, अयोग्य विचार कोई भी ना करें ।

तब जाकर देखो कि अंजना ने 22-22 साल बीत जाने पर भी इस उत्तमता को संभाल रखी; ये कैसे संभव हो सकता, यदि पवित्रता पर अधिकार न आजमाया होता तो ?

पवनंजय ने तो विवाह उपरांत तुरंत अंजनासुंदरी को छोड दिया । 2-4 दिन की बात नहीं है, 2-4 महीनों भी हीं और 2-4 वर्ष भी नहीं, पर 22-22 वर्षो का लगातार इंतजार किया अंजना ने । पति ने तो सामने देखने की भी परवाह नहीं की । कौन है अंजना ? विद्याधर राजा के सौ पुत्रो पर, सबकी प्यारी, एकलौती महान राजपुत्री ! जिसका छोटा से छोटा भी गुनाह नहीं है, ऐसी पुण्यवती स्त्री को महल में अकेला रहना पडा । सोचो, ऐसी परिस्थिति में दुर्ध्यान-अशुभ विचार कितने हो सकते है ? पर अंजना ने अभ्यंतर अधिकार आजमाये हैं ।

22 वर्षो का समय गुजर गया हैं । दु:ख तो होता ही है, दु:ख अच्छा भी नहीं लगता; पर कोई अनुचित विचार नहीं । पति की ओर से प्रेम मिले; यह बाह्य जीवन है, वहाँ अपना हक लगता भी नहीं । जहाँ अपना हक-अधिकार ही नहीं, वहाँ बुरे मन-वचन-वर्तन करने में मूर्खाइ है या और कुछ ? इसलिए अंजनासुंदरी तो कर्म के विपाक के चिंतन का अधिकार निभा रही है । खुद अपनी कमीयाँ देख रही हैं ।

अभ्यंतर जीवन पर अधिकार आजमाने से आत्मा उज्ज्वल बनती है । 'इसने मुझसे विवाह करके मुझे खड्ढे में डाल दी ।' ऐसे विचार करें तो आत्मा उज्ज्वल बनेगी या काली ?

रावण के सैनिकों की हार : प्रह्लाद को आमंत्रण :

एक बार ऐसा हुआ कि पवनंजय के पिता प्रह्लाद राजा के पास रावण का दूत आकर कहने लगा कि 'वो वरुण राजा रावण महाराजा के सामने झुकता नहीं, अभी भी हंमेशा वैर रखता है । उसे नमस्कार करने को कहा, तो अहंकार से भरा पर्वत जैसा वो अपने बाहुओं को दिखाते हुए कहता है : 'अरे ! रावण यानि कौन ? उससे

क्या सिद्ध होने वाला था ? वो घर भूला है ! मैं कोई उस हारे हुए इन्द्रराजा, कुबेरराजा आदि के जैसा नहीं हूँ । मैं तो वरुण हूँ वरुण ! देवों से अधिष्ठित रत्नों पर उसे घमंड हो तो आये वो रणभूमि में ! और देख ले कि मैं उसका बहुत समय से संग्रहित किया घमंड किस प्रकार उतारता हूँ !'

'उसके इन शब्दों को सुन रावण ने क्रोधित हो कर उस पर आक्रमण के लिए सैन्य भेजा, तब वो उसके पुत्रों को साथ लेकर समरांगण में युद्ध के लिए आ गया । उस महासंग्राम में वरुण के वीर पुत्रों रावण राजा के भांजे खर और दूषण को बंधी बना कर उठा लें गयें । नायक के चले जाने पर रावण के सैन्य में फुट पड गयी, और वरुण विजयी बन अपनी नगरी चला गया । अब रावण ने विद्याधर राजाओं को बुलाने के लिए प्रत्येक के पास दूत भेजे है, उनमें से आपके पास मुझे भेजा है ।'

देखों, ये अधिकार की लडाई ! रावण सामने वाले को दबाने का अधिकार आजमाने जाता है, तो उसमें खुद ही हार जाता है ! जबकि सामने वाला भी अक्कड बन कर हक दिखाने जाता है, तो देखना कैसी मुँह की खाता है ।

संसार में ऐसे ही फालतु के अधिकार आजमाने के पीछे लडाई-झगडे और घोर अशांति में जीव परेशान हो रहा है । इसीलिए 'समझदार को ईशारा काफी है;' बस, ईशारे में समझकर जीवन को इस प्रकार व्यर्थ न करके आत्म हितकर धर्म के मिले अधिकार को सफल करें ।

लडाई करें, पर बाहरी लोगों के साथ लडने में बरबादी ! और अंदर के रागादि दुश्मनों के साथ लडने में अर्थात् इनको तिरस्कार करने में महान आजादी !

खर और दूषण बाहर की लडाई में यहाँ ही साक्षात् बरबाद हुए ! बंधी बनकर अपहृत हुए ! तो जीव भी आखिरकार मृत्यु से ऐसे ही बंदी बनाकर उठा ले जाने पर अपहृत ही हो जाता है ना ? यहाँ तो ऊठा ले जाने पर भी शायद कोई छुडवाने आ जायें, पर परलोक में जीव को छुडवाने कौन आयेगा ? फिर भी परलोक को तहसनहस कर देने वाले अभिमान, रीष, रोष, ईर्ष्या, निंदा, अनीति, असत्य वगैरह

दुर्गुणों का सेवन अधिकारपूर्ण किये जाना ! कितने अक्कलमंद ? परलोक सुधारना है, तो नीव में पडे दोषों को दूर करों ।

प्रह्लाद राजा रावण की मदद करने के लिए तैयार हो कर जाने लगता है, तब पवनंजय कहता है : 'पिताजी ! आप यहीं रहो । रावण के मनोरथ को मैं ही पूरा करुँगा । शंका न करें कि यह लडका क्या कर सकेगा ? क्योंकि मैं हुँ तो आप ही का पुत्र ना ?'

प्रह्लाद को पवनंजय पर इतना ज्यादा प्रेम है कि वो उसे इस कष्ट में भेजते हुए नाखुश है, परंतु यह तो पवनंजय ! एकमात्र भ्रम के कारण अंजना का त्याग किया; ये दोष को नजरअंदाज कर दो, तो बाकी तो विनयादि अनेक गुणों को धारण करनेवाला है । उसमें भी सती के गुण की कदर किस प्रकार करता है ? यह आगे देखेंगे । यहाँ आग्रह करके पिता को रोककर, उनकी अनुज्ञा ले कर सब को पूछ कर चल निकला ।

अंजना देखने आयी :

पवनंजय शुकनपूर्वक घुडसवारों के दल के साथ निकल रहा है; यह बात अंजना लोगों के मुख से सुनती है । पत्नी है, बडे राजकुल से आयी है, फिर भी पति की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति की जानकारी भी उसे लोकमुख से सुनने को मिलती है ! महत्त्वपूर्ण बात यही है कि कर्म के विपाक तो सहने ही पडते है, परंतु अंजना इसमें मन को बिगडने नहीं देती । मन को एकदम निर्मल ही रखती है ।

पति के युद्धप्रस्थान की बात सुनके अंजना उत्सुक बनकर अधिकार आजमाने का प्रयत्न करती है । कौन सा अधिकार ? 'इसने मेरा बुरा किया है, तो इसका भी अच्छा नहीं होगा' ये श्राप देने का नहीं । वो तो दूसरा ही अधिकार निभाती है । शरीर कृष्णपक्ष के चन्द्र की तरह क्षीण हो गया है, तांबूल विलेपन वगैरह छोड दिये है; ऐसी ही वो आंसु भरी आँखों के साथ बाहर आकर, खंभे के सहारे खडी होकर पति की राह देखती है ।

पवनंजय की रोष भरी विचारणा :

पवनंजय अंजना को देखता है । देखकर और भी ज्यादा रोष में आ जाता है । वर्षो का समय गुजर गया, पर फिर भी दिल में पडा हुआ शल्य नष्ट होता ही नहीं । शल्य की कैसी भयानकता ! अंजना में सब सही है, पर उसका शल्य यह सही भी देखने नही देता, उल्टा अहंकारी और तिरस्कार भरे विचार करवाता है । 'आँखें होते हुए भी अंधा' इसी को कहते है ! शल्य के परदे का अंधेरा !

पवनंजय मन ही मन सोचता है : 'ओह ! इस दुर्बुद्धि स्त्री की कैसी निर्लज्जता ! कैसी निर्भीकता । पर हाँ, इसके मन की दुष्टता तो मैंने पहले भी जानी है, तो इसमें नया क्या देखना है ? मुझे तो मात्र माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन ना हो जाये, इस भय से इसके साथ विवाह करना पडा था ।'

अंजना का किमती कुलीन निवेदन :

तब अंजना आगे आकर पवनंजय के पैरों में गिर पडती है, फिर हाथ जोडकर नम्र शब्दों में विनंती करती है : 'नाथ ! आपने सबको बुलाया, मात्र मुझे ही बिल्कुल नहीं बुलाया, पर ये मेरे ही पूर्वकर्म का दोष है । फिर भी मैं विनंती करती हुँ कि इस दासी को आप भूल न जाना, चित्त में से निकाल न देना । सकुशल वापस आना; इस प्रकार आपका मार्ग कल्याणरूप बने ।'

धैर्य और क्षमा पर अंजना ने अधिकार जमाया है, इसीलिए शुभेच्छा के वचन बरसा रही थी ! वहीं यह भी सच है कि धैर्य संभाले रखना जितना संभव है, उतनी अधीरता से हमारे तय कियेनुसार होना कहाँ संभव है ? धैर्य से तो आत्मतेज खिलता है । अग्नि में तपता हुआ सोना ज्यादा प्रकाशमान बनता है, कालिमा लाये बिना अपनी प्रकाशवंती दशा कायम रखता है । सोना ! यह तो जड है जड । तो चेतन जैसा चेतन यह आत्मा प्रकाशवंत बनने के बदले उल्टा शोक-रोष आदि की कालिमा वाला बनें तो ? इसमें आश्चर्य नहीं ? आत्मा जड से भी जघन्य ?

दमयंती का आत्मतेज :

दमयंती किसकी पटरानी ? नलराजा की । चरित्रकार उसे तीन खंड का नरपति कहते है । ऐसी दमयंती ने कितनी आपत्ति में भी आत्मतेज कायम रखा है, जानते हो ? राजपाट खत्म ! मात्र पहने कपडों में ये पति के साथ जंगल में भेज दी गई । वहाँ आधा वस्त्र काट कर आधी रात को नलराजा चला जाता है । शस्त्र सहित भले भले सैनिकों की भी जहाँ हालत खराब हो जाये, ऐसे घोर जंगल में वो अकेली !

ऐसे भयंकर जंगल की कंटीली धरती पर कली से भी कोमल दमयंती आगे बढती जाती है । अच्छी सी गुफा देखकर वहाँ सात वर्ष निकाले ! कुल 12 वर्ष का वियोग सहा, पर यह सब आत्मा को प्रकाशवंत, उज्ज्वल रखकर । किस अधिकार के आधार पर ? बाह्य जीवन के नहीं, अभ्यंतर शुभ जीवन के ।

अभ्यंतर जीवन एक बडा साम्राज्य है, जिसमें कर्म-विपाक और तत्त्व का चिंतन है, नवकार स्मरण है, अनित्य भावनाओं से भावित होना है, शील के संरक्षण की सचोट परिणति है; यह अधिकार है ।

पति से मिलन ना हो जाये, तब तक दूध-दहीं वगैरह विगई का त्याग, साज-श्रृंगार का पच्चक्खाण, रंगीले भडकदार वस्त्र पहनना बंद ! मखमल के बिस्तर पर सोना नहीं ! यह आत्मतेज है ! पर्वत की गुफा में श्री शांतिनाथ भगवान की मिट्टी की मूर्ति स्थापित करके ध्यान करने लगी ! जीवन को धन्य माना कि प्रभु तो मेरे पास है ही !

इतना समझ लो कि सब कुछ लूट जाये, पर अपने पास यदि धैर्य, खामोशी, समता, रंगराग का त्याग, परमात्मस्मरण; ये सब संभाले रखे हैं, तो आपको कोई लूट नहीं सकता । इस पर तारक अधिकार पहुँचता ही है, तो क्यों नहीं निभाना ऐसा अधिकार ?

श्राप पर आशीर्वाद :

अंजनासुंदरी तिरस्कृत करने वाले पति के चरणों में गिर पडी और शुभेच्छा व्यक्त की : 'आपका मार्ग सुरक्षापूर्ण और कुशलतापूर्वक बना रहे ।'

वर्षों तक पति की भयंकर उपेक्षा सही है । शादी कर ली; इतना माफ समझ लो ! लग्न से बंधन में आने के बाद अब ओर कुछ हो ही नहीं सकता; ऐसी परिस्थिति में पति उसे तज देता है ! 1-2 दिन-महिने नहीं, वर्षों के वर्षों तक ! फिर भी वर्षों तक मन में कैसा मंथन किया होगा कि आज तिरस्कार करने वाले पति के पैरों में गिर कर ऐसे मंगल वचन कहें ! सामनेवाले ने श्राप देने जैसा कार्य किया हो, फिर भी उस को आशीर्वाद, दुआ देना; कैसे उदार दिल के उत्तम चिंतन से हो सकता होगा !

पति के सामने पत्नी, पिता के सामने पुत्र, गुरु के सामने शिष्य ऐसे बन जाये तो ? खुबी यह देखों कि पति का ऐसा कोई उपकार नहीं, जबकि माता-पिता और गुरु का उपकार तो अपरंपार है, फिर भी इन उपकारों को भूला कर कर्मवश अवसर आने पर जीव अयोग्य, अधम विचार-वाणी और व्यवहार करता है ।

मनुष्य इतना ही विचार करें कि 'माता-पिता या गुरु चाहे जो भी उपेक्षा करें, नजरअंदाज करें, परंतु उनके जो अनगिनत उपकार है, उससे होने वाले महालाभ के सामने इस उपेक्षा को क्या मन से लगाना ? क्या गिनना ? क्या महत्त्व ? तो फिर कोई अनुचित वर्तन नहीं होगा । मात्र ऐसे शुभ, उत्तम विचारों के लिए भारी मनोमंथन होना चाहिये । इसमें साधु जैसो को तो ऐसा लगता हैं कि एक संसारी घरबारवाली अंजनासुंदरी जैसी स्त्री ऐसा उत्तम दिल रख सकती है, तो मुझे तो इससे भी कितना ऊँचा दिल रखना चाहिये ? बात सिर्फ इतनी है कि दिल को उत्तम बनाकर सुंदर कोटि के मनोमंथन करे । इस पर आपका अधिकार है । अंजना ने यह अधिकार निभाया, तो देखिये अब सहज ही बात में कैसे बदल जाता है सब ।

८ पवनंजय का परिवर्तन

पवनंजय का मन बदलना :

अंजना शुभेच्छा देती है, फिर भी पवनंजय उसे नजरअंदाज करके चला जाता है । अंजना दिल पर काबू रखकर महल में पहुँची । परंतु पति के इस बर्ताव से पानी से भीगें समुद्रतट के जैसे ढीली पड गई । जड जैसी बन गई ।

पवनंजय तो वहाँ से चला गया, उसे रावण के पास जाना था, पर बीच में संध्या हुई, इसलिए मानसरोवर पर पडाव डालते है । चाँदनी रात है । विद्याधर होने के कारण विद्या के बल से आवास खडा किया । प्रहसित मित्र के पास बैठा है और बातें करता है । इतने में सरोवर पर पवनंजय की दृष्टि पडी । उसने देखा कि एक चक्रवाकी (एक मादा पक्षी) छटपटा रही थी, झूझ रही थी ।

पवनंजय पूछता है : 'मित्र ! यह क्या ?'

उसका मित्र कहता है : 'ये चक्रवाकी उसके पति चक्रवाक से सूर्यास्त होने से अलग हो गयी, अब सूर्योदय के बाद ही मिलाप होगा, तब तक पति के विरह के कारण यह तडपती रहेगी । उसकी तडप और छटपटाहट देख पवनंजय भी कुलबुला सा गया । जैसा भी है, फिर भी मनुष्य का ही दिल है ना ? दुश्मन भी तडपता दिख जाये, तो भी मनुष्य यह देख के थम जाता है । पवनंजय अब पश्चात्ताप के विचारों में खोने लगा ।

पवनंजय का पश्चात्ताप :

'अरे ! यह दिन में तो पति से मिलती है, मात्र रात्री के बारह घंटों के वियोग होने पर जब उसकी ऐसी दशा है, तो मैंने जिसे विवाह के तुरंत बाद कई वर्षो के लिए तडपती छोड दी, ऐसी महासती की दशा कैसी हुई होगी ?' अंजना के पाप कर्म का उदय अपने आप ही दूर हुआ, तब पवनंजय का हृदय परिवर्तित हो गया ।

'22 वर्ष किस प्रकार गुजारे होंगे ? कितने अरमान ले कर आयी थी वो ! पवनंजय के पिता ने सामने से खास तौर पर माँगी थी, वरना अंजना के लिए उम्मीद्वार की कोई कमी नहीं थी । राजा के 100 पुत्रों ऊपर हुई लाडली पुत्री के क्या हाल कर दिये मैंने ? निकलते-निकलते भी जैसे ठोकर मार कर मैं चला आया ।'

पवनंजय विचार करने लगा कि 'लग्न के प्रसंग से लेकर आज तक मैंने एक बार बुलाया तक भी नहीं और वो मिलने आयी, तो उसकी उपेक्षा की । ओह ! दु:ख के सागर में डूबी उसकी हालत कैसी हुई होगी ? वो अब जी भी नहीं पायेगी । धिक्कार है मेरे अविवेक को; जो उस बेचारी को युँ मरना पडे ! उसकी हत्या के पाप से मैं मर कर कहाँ जाऊँगा ?' पवनंजय अपने मन की दु:खभरी बातें प्रहसित मित्र को करता है । मित्र के बिना अपने दु:ख की बात किसके आगे करे ?

मित्र पैसा-धन कुछ भी न दे पाये, तो भी;

- दु:ख को झेलने के लिए जो सांत्वना देता है, उसकी बडी किमत है ।
- बात सुनकर जो हार्दिक संवेदना बताता है, वह बहुत मूल्यवान है ।
- बात समझने के बाद जो कल्याणकारी आश्वासन देता है, वह ही महत्त्वपूर्ण है ।

मित्र कहता है : 'अंजना के भयंकर दु:ख की खबर तुझे आज पडी, ये भी अच्छा ही हुआ । बात तो सच है कि उस बिचारी की परिस्थिति मर जाने जैसी ही है, इसलिए तुं अभी के अभी उसके पास जाकर प्रियवचन से उसे मधुर आश्वासन दे; यही योग्य होगा, ये अत्यंत जरूरी भी है । फिर उसकी अनुमति लेकर तुझे तेरे युद्धकार्य के लिए जाना चाहिये । इसलिए उठ, अब खडा हो और जा ।'

पवनंजय अंजना के महल में :

पवनंजय के परिवर्तित हृदय में अब ये ख्वाहिश अंकुरित हो गयी थी कि अंजना को उसे खुद् स्वस्थ करना चाहिये । मित्र की सलाह भी अपने आशयानुसार मिली,

तो सुनकर जाने के लिए विशेष उत्सुक बना, दोनों ही वहाँ से विद्याबल से आकाश मार्ग से उड कर अंजनासुंदरी के महल पहुँचें ।

देखों ! यहाँ अंजना का भाग्य खुल जाता है, विवाह के पश्चात् भी वर्षों तक उसकी तरफ नजर भी नहीं डालने वाला पति, अंजना के बिना किसी पुरुषार्थ-प्रयत्न, पिघल कर खुद ही चला आया है ।

मानव की अधीरता से क्या होता है ? जहाँ वस्तु भाग्य के आधीन है, वहाँ अपना खुद का अधिकार नहीं । वहाँ अधिकार जमाने का प्रयत्न करना यानि कष्ट और क्लेश या और कुछ ? क्योंकि ऐसा प्रयत्न करने में मेहनत तो करनी ही पडेगी, कष्ट सहना ही पडेगा और जब दुर्भाग्य का सामना कर रहे हो, तब चाहे कितने भी उपाय करके भी, चित्त पापबुद्धि के क्लेश में गिरेगा ही ।

तब यदि इतनी सी बात समझ में आ जाये कि 'मेरे अधिकार के बाहर की वस्तु के लिए व्यर्थ ही क्यों प्रयत्न करुँ ? यह करके व्यर्थ ही क्यों कष्ट-क्लेश को न्यौता दूँ ? भाग्यानुसार जो होगा, उसे होने दो, मन बिगाडने की जरूरत नहीं है ।' यह बात मन में ठीक से बैठ गई, तो मानवता के गुणों का जो दीवाला निकलता है, वह शायद ना निकले ।

देखते हो ना आप कि समय खराब चल रहा है । यहि सूचित करता है कि भाग्य कमजोर है । फिर भी इस दुर्बल भाग्य का सामना करने के लिए असत्य, अनीति, महाकर्मादान के धंधे, टेक्स-चोरी आदि कितने पाप आचरते हो ! शायद आप ऐसा कहोंगे :

प्रश्न : पर इससे मन चाहे पैसे मिलते है ना ?

उत्तर : परंतु भूलना मत कि यह पैसा भी पुण्य के कारण ही आता है । भाग्य ना हो, तो पैसा मिलना तो दूर, उल्टा असत्य, अनीति वगैरह से मात्र पाप के ढेर सिर पर चढेंगे !

इसलिए सही बात तो यह है कि हमारा सच्चा और सही अधिकार गुणों की सिद्धि करने पर है, तो वो ही आजमाना चाहिये, दूसरी सिद्धि अधिकारवाले भाग्य पर छोड दे ।

अंजना ने ऐसा किया था, तभी तो आज उसका भाग्य जागृत होते ही पवनंजय अपने आप यहाँ खींचा चला आ रहा है । यह बात भी सच्ची है कि उसने पति को खींचने के आडे-तेढे प्रयत्न नहीं किये थे, फिर भी उसे पति की चुप्पी का तो भारी दु:ख था ही । अत: जब पवनंजय तथा प्रहसित आये, तब पवनंजय द्वार के पीछे छुपकर खडा रहा और प्रहसित अंदर आया तब उसने अंजना की भारी दु:खभरी स्थिति देखी ।

- जैसे मछली सुके हुए तालाब के थोडे से पानी में तडफडाहट मचाती है, वैसे ही अंजना पलंग में करवटे बदल रही थी ।
- जैसे हिम जैसी चंद्र की ज्योत्सना में सूर्य से विकास पाने वाली कमलिनी पीडा पाती है, वैसे अंजना को कोमल बिस्तर से भी पीडा हो रही थी ।
- उसकी सखी वसंततिलका उसे बार-बार आश्वासन दे रही थी, फिर भी वो तो पल पल में शून्य चित्तवाली और शून्य दृष्टिवाली पुतली जैसी बन जाती थी ।

सती की चीख :

संसार ऐसा ही है ना ? है क्या यहाँ गुणीयल जीव की कदर ? होगी भी कैसे ? हो तो फिर संसार कैसा ? संसार का तो स्वभाव ही है कि अनेक प्रकार की विषमता और विलक्षणता दिखाना । जीव ही मूर्ख है कि विषम और विलक्षण संसार पर मुग्ध हो जाता है, पर समता और आत्मस्वभाव स्वरूप मोक्ष पर नहीं ।

प्रहसित अंदर पहुँचा और जैसे ही अंजनासुंदरी ने देखा कि वो चौंकी ! उसे लगा कि 'अरे ! ये व्यंतर की तरह यहाँ अचानक कौन आ गया ?' थोडा डर भी लगा,

दूसरी तरफ दु:ख की सीमा नहीं । जबकी पति धिक्कार के चला गया था, फिर भी परपुरुष का प्रवेश देख के सावधान हो जाती है ।

मन में यह विचार नहीं आता कि 'कोई भला मनुष्य आश्वासन देने आया होगा, ठीक है ।' क्योंकि परपुरुष से उसे कुछ नहीं चाहिये । जहाँ परपुरुष की छाया भी बर्दाश्त नहीं होती, वहाँ दृष्टि कैसे सहन होगी ? निरर्थक व्यवहार कैसे सहन होंगे ? निरर्थक व्यवहार समझे ना ? मात्र वाणी के नहीं... आज संसार में क्या धमाल मची है ? मानव मनुष्ययुग में से दिव्ययुग में जाने के बदले पाशवी युग की ओर जा रहा है । ख्याल भी नहीं कि आर्यदेश में अवतार अर्थात् कुलीन जीव का अवतार ! सतीत्व से जीने वाले, सज्जनता से जीने वाले अवतार ! कोई गलत विचार भी नहीं हो, वहाँ गलत शब्दों की, गलत नजर की तो संभावना ही कैसी ? सुशील नारी; जैसे बिल्ली के आगमन पर चूहीयाँ सावधान बन जाती हैं, वैसे ही परपुरुष के आगमन मात्र से सावधान बनने वाली होती हैं ।

सती धैर्य धारण करके चिल्लाते कहती है : 'अरे ! कौन हो तुम ? क्यों आये हो ? परपुरुष ! तुझे पहचानने की मुझे जरूरत नहीं । परनारी के निवास में खबरदार जो खडा रहा तो । चला जा यहाँ से ।' सती की हाँक है, परपुरुष की तो छाया भी उससे बर्दाश्त नही होती ।

आर्य संस्कृति की ये भव्यता कहाँ ?

और आजकल की हाईस्कूल-कोलेज की युवतीयाँ के युवान लडकों के साथ सहवास की बेहूदी संस्कृति कहाँ ?

सती को लगा कि वो पुरुष नहीं जा रहा, इससे वो घबरा जाती है और कहती है : 'अरे वसंततिलका ! देख क्या रही है ? इसे हाथ पकडकर बाहर निकाल जा । चन्द्रमाँ जैसी निर्मल मैं इसे देख भी नहीं सकती । इस महल में तो सिर्फ पवनंजय के अलावा किसी ओर पुरुष को आने-जाने का अधिकार भी नहीं, तो तुं देख क्या

रही है ? क्यों इसे निकालने में इतना विलंब कर रही है ? निकाल; धक्के मार के बाहर निकाल इसे ।'

यह सुनकर प्रहसित खुश होगा कि नाखुश ? खुश ? अच्छा, क्यों ? उसे बाहर निकालने का कह रही है ना ? पर देखो कि प्रहसित, अंजना की इतनी ज्यादा करुण परिस्थिति में भी उसका एक तो पवनंजय के प्रति आदरभाव और दूसरा; सतीत्व की मर्यादा का कडक पालन देखता है ।

पवनंजय ने इतना बडा विश्वासघात, धोखा दिया है, तिरस्कार किया है, फिर भी एकांत में भी उसके लिए कुछ गलत नहीं बोलना, बल्कि उसका स्वामित्व जाहिर करना । दिल में क्षुद्रता नहीं, पर कितनी ऊँची उदारता, उत्तमता हो, तो ही ये संभव होता है ना ? मानवजीवन की शोभा यही है कि हृदय को बहुत ही उत्तम, बहुत ही उदार बनाना ।

महासती में दूसरा है : सतीत्व के आचारों की मर्यादा का पालन । वर्षो से पति ने त्याग कर दिया है, पर कोई दूसरे पुरुष के साथ लप्पर-छप्पर तो दूर, पर देखने की भी बात नहीं । फिर वहाँ परपुरुष के साथ बातचीत करके आश्वासन या आश्रय लेने की बात ही कहाँ ? यह बहुत ही ध्यान में रखने जैसा है, प्रियतम-प्रियतमा के विरह में मन व्याकुलता अनुभव करता है, उदास-उद्विग्न बन जाता है, परस्त्री-परपुरुष के साथ बातचीत करके सहायता आश्वासन लेने को चटपटाता है । फिर दलील होती है कि 'क्या अकेले बैठे रहे ?' तब विचार करना चाहिये कि पवित्र जीवन की मर्यादा के भार वहन करने जैसा है कि नहीं ? मन चोर है; यह भूलना मत । मन आत्मा को ठग न जाये, इसीलिए ही आर्यसंस्कृति की मर्यादाएँ हैं । कुलीन आत्मा को ये मर्यादा के पालन सहज होते है । अंजनासुंदरी ऐसा मर्यादा-समृद्ध जीवन जी रही है ।

प्रहसित अंजना की सतीत्व की मर्यादा तथा धुत्कारने वाले पति के प्रति भी आदरभाव; ये दोनों वस्तु पर बहुत खुश हो कर तुरंत नमस्कार करके खुलासा करता

है : ‘देवी ! धन्य है तेरा सतीत्व ! स्वामिनि ! लंबे समय बाद आये तेरे व्याकुल पति पवनंजय के मिलन की, तुझे मैं बधाई देता हुँ । मैं उसका प्राणप्रिय मित्र प्रहसित आगे आया हुँ और वो भी पीछे आया ही समझों ।’

खुलासा सुनकर अंजना भयमुक्त बनी, परंतु उसे तो कल्पना भी नहीं थी कि इतना पराङ्मुख पति उसके सन्मुख बन जाये वो भी हर्षपूर्वक । इसलिए वो प्रहसित से कहती है :

‘अरे पागल ! यहाँ मेरा नसीब ही मुझ पर हँस रहा है, वहाँ तुं क्यों मेरी मजाक उडा रहा है ? जिनको मेरा नाम सुनना भी नहीं पसंद, वो मुझे सहर्ष मिलने आये; ऐसी संभावना भी कैसे हो सकती है ? कर्मसत्ता से पीडा पाये हुओं का मजाक करने के लिए यह योग्य अवसर नहीं है या शायद इसमें तेरा कोई दोष ही नहीं है, दोष तो मेरे ही पूर्वकर्मो का है, वरना ऐसा कुलवान पति मेरा त्याग ही क्युँ करता ? अफसोस कि जब से पाणिग्रहण (विवाह) हुआ, तब से ले कर स्वामी के बिना मुझे आज 22-22 वर्ष बीत गये, फिर भी मैं पापिणी अभी तक जीवित ही हुँ... !’

वस्तु की उज्ज्वलता देखो :

अंजना के शब्द बहुत विचारने जैसे है । पवनंजय का हृदय परिवर्तित हुआ; यह उसे असंभव लग रहा है । इसलिए कहती है : ‘जहाँ क्रूर भाग्य मेरे साथ मजाक कर रहा है, वहाँ तुं असंभव बात करके ओर ज्यादा मजाक क्यों कर रहा है ? दुर्भाग्य के महादु:ख से पीडित मेरे साथ इस प्रकार मजाक करना योग्य नहीं ।’ फिर मन को दूसरी ओर मोड कर कहती है : ‘दोष मजाक करने वालों का क्या मानना; जहाँ अपने कर्मो का ही दोष हो !’

ऐसी परिस्थिति में भी उसे गलती अपने कर्मों की ही दिखती है, और वो भी तर्कबद्ध तरीके से । तर्क यह कि ‘पति कुलवान है; इसलिए उसकी कोई गलती नहीं ।’

अंजना के अपने स्वार्थ की दृष्टि से देखें, तो बिना गुनाह पति ने अपनी ओर से उसकी ओर बेरुखी और नजरअंदाजी में कोई कमी नहीं छोडी । फिर भी पति का यह गुनहगार पक्ष ना देखकर उसके कुलवानपन को देखती है और कुलवानपन को लेकर उसकी उत्तमता का पक्ष देखती है, फिर भी 'खुद के साथ ऐसा क्युं हुआ ?' तो इसके लिए अपने पूर्व के कर्म की प्रबलता को सामने रखती है ।

दृष्टिकोण की खूबी है । अंजना हलका पक्ष भी देख सकती है, परंतु ऐसा करने से क्रोध, गुस्सा, रुठना, गर्व, क्षुद्रता, मनोदु:ख आदि दोष विकसित होते हैं, वैर-विरोध बढते हैं । जबकि अच्छे पक्ष को देखने से क्रोधादि हो, तो भी शांत हो जाते है । वस्तु की काली बाजु देखने के बजाय उजली बाजु देखने से अपने में उज्ज्वलता प्रगट होती है । पति कुलवान है, ये बात भी सच्ची है, दूसरी ओर अनेक गुणों से परिपूर्ण भी है; तो सिर्फ अपना स्वार्थ तोडा इसलिए बाकी यह सब अच्छे तत्त्व देखने योग्य नहीं है क्या ? इन्हें नजरअंदाज कर दिया जाय ? क्या ये न्याय है ?

दृष्टिकोण सुधारना; यही उन्नति की नीव है :

मनुष्य दृष्टिकोण के दोष के कारण इन शुभ तत्त्व को नजरअंदाज कर हल्के तत्त्वों को देखने के लिए प्रेरित होता है । परंतु इस प्रकार तो वो अपनी कोई उन्नति नहीं कर पायेगा, क्योंकि जहाँ नीव में मुख्यता दृष्टि ही नहीं सुधारें, तो फिर ऊपरी गुण रूपी इमारत को किस प्रकार ठोस और मजबूत बना पायेगा ? सभी उन्नति की नीव में दृष्टिकोण का सुधारा है । यदि दृष्टि अशुद्ध होगी-मैली होगी, तो ऊपर से दिखते गुण; वह गुण नहीं, पर गुणाभास ही होंगे ।

मनुष्य जीवन का सर्वप्रथम कार्य है : दृष्टिकोण सुधारना, अलग-अलग धर्म में देखोंगे तो दीखाई देगा कि सब में सर्वप्रथम दृष्टिकोण का सुधारा ही आवश्यक गिना है ।

- सांख्य और योगदर्शन कहता है : 'विवेक ख्याति' को पहले प्रगट करो । आत्मा को जड प्रकृति में 'मैं' और 'मेरे' के अहं का जो भ्रम है; उस भ्रम

का नाश करना चाहिये । ऐसा विवेक प्रगट होना चाहिये कि 'मैं प्रकृति से भिन्न हुँ और प्रकृति के कार्यो का कर्ता नही हुँ ।' इस प्रकार अपना अहंत्व और कर्तृत्व (कार्य करने का) अभिमान दूर करना; यह दृष्टिकोण का सुधारना ही हुआ ।

- वेदान्त दर्शन कहता है : अविद्या के-अज्ञान के आवरण के कारण शुद्ध आत्मा भी जगत को सत्य मान बैठी है । अनेक जीवों का अस्तित्व मानकर, 'मैं अलग, दूसरे अलग' ऐसे भ्रम में है । अब इसे **'तत् त्वमसि'** - इत्यादि वेद श्रुति द्वारा 'वो शुद्ध ब्रह्म तुं है' वगैरह तत्त्वज्ञान जगाना चाहिये, फिर ही उन्नति की सीढीयाँ चढी जा सकती है ।
- न्यायदर्शन आदि भी प्रमाण-प्रमेय वगैरह के तत्त्वज्ञान को आवश्यक माने, तो भी उसमें दृष्टिकोण को सुधारने की ही बात प्रमुख है ।
- बौद्धदर्शन प्रशान्तवाहिता को जरूरी मानता है । आत्मा भ्रम के कारण जगत को भिन्न-भिन्न पदार्थमय और स्थिर मान बैठी हैं, इसके बदले विज्ञानमय और क्षणिक समझ लें, तब प्रशान्तवाहिता प्राप्त होती है । इस समझ में भी दृष्टि को सुधारने का उपदेश है ।
- जबकि जैनधर्म तो कहता ही है कि जब तक मिथ्यादृष्टि हट नहीं जाती और सम्यग्दृष्टि प्रगट नहीं हो जाती, तब तक ऊपर के श्रावकपन आदि के गुणस्थानक तक चढ पाना भी मुश्किल है । वैसे ही संसारदृष्टि को छोड कर मोक्षदृष्टि जागेगी नहीं, तब तक नीचे की भूमिका भी तैयार नहीं होगी । इस प्रकार देंखे तो सर्वत्र दृष्टि का सुधारा ही नीव में जरूरी माना है ।

अंजना ने दृष्टि को उज्ज्वल बनाई रखी है, इसीसे प्रहसित के आगे पति को कुलवान यानि अच्छे और खुद अपने पूर्वकर्मो का दोष कह पायी । इतना ही नहीं,

पर आगे यह भी कहा कि 'ऐसे उत्तम पति के वियोग में भी वो जीवित ही रही, यह मेरे धिठपने और पापात्मपने का सूचक है ।'

जरा सोचों कि उसके दिल में कैसी भावना रही होगी, जिससे इस प्रकार की उद्गार निकल पाये ? अच्छे स्वजन के विरह में आराम से सुखपूर्वक खा-पीकर जीने का आनंद पुण्यात्मा को कैसे होगा ? यह तो पापात्मा को होगा; उसका यही कहने का भाव है । मानसिक जीवन पर कैसा अधिकार रखा होगा, जिससे दृष्टि में इतनी निर्मलता बनी रहे; ये सच में समझने जैसी बात है ।

वैसे भी अब तो पवनंजय पिघल कर ही आया है, तब अंजना के 'मैं पापिनी 22-22 वर्ष से जिंदा हुँ' इस प्रकार के शब्द सुनने के बाद बाकी ही क्या रह जाता है ? उसका दिल भर आया, आँखें आँसुओं से भीग गयी । अंजना के दु:ख का दर्द उसके दिल में महसूस हुआ और वो तुरंत ही बाहर से अंदर आ कर, आँखों से बरसते आँसु और गद्गद् स्वर से कहने लगा कि :

'हे प्रिया ! तेरे जैसी निर्दोष को फेरों के तुरंत बाद दोष लगाकर, नादान पंडितमानी (= खुद समझदार होने का घमंडवाला) ऐसे मैंने तेरी उपेक्षा की । सिर्फ मेरे कारण ही तेरी इतनी असह्य दुर्दशा हुई है । वैसे तो लगभग मृत्यु तक पहुँची तुं मेरे सद्भाग्य के ही कारण मृत्यु से बची रही ... !'

पवनंजय के शब्दों में भारी पश्चात्ताप के साथ-साथ अपनी और पत्नी की तुलना है :

- खुद नादान तथा अज्ञानी ! और पत्नी अपने उदार दिल से बिना कुछ बोले सहन करने में सज्ञान और विवेकवती ।
- खुद पंडितमानी अर्थात् अपने आपको बहुत समझदार मानने का घमंड करनेवाला, जबकि पत्नी तो सही मायनों में समझदार होते हुए भी नम्र, मृदु और विनयभरी !

- खुद् उपेक्षा और तिरस्कार करनेवाला उल्लंठ ! और पत्नी यह सब सहने के दु:ख में पीलाती हुई !

यह तुलना उसे उघडे-खुले अंतर चक्षु से दिख रही हैं ! उस पर हृदय और वाणी गद्‌गद बने हुए है ।

इन सब से अंजनासुंदरी अपने पति को पहचान लेती है और उसकी आँखों में चमक आ जाती है ! वो तो स्तब्ध सी हो जाती है । 22-22 वर्षो तक जिनके दर्शन को तरस रही थी फिर भी दुर्लभ सा था, वो आज अचानक ही सुलभ हो गया, और जिस प्रेम और ममता की कमी थी, वो मेघ की तरह बरसने लगा । ऐसा होने पर नेत्र तो चमकेंगे ही ना ?

इस भवसागर के अनंत-अनंत भ्रमण में वीतराग और सद्‌गुरु के दर्शन और उनके प्रेम-ममता की दुर्लभता को समझने वाला जब किसी धन्य पल में यह सब पा लेता है, तो उसके नेत्र चमकेंगे, हृदय में उत्साह और मस्ती आ ही जायेगी, आत्मा अपूर्व उत्साह, उल्लास और अहोभाग्य का अनुभव करेगा; यह सब सहज ही होगा, है ना ? आपको भी यह सब अनुभव होता है ? होता हो, तो कहा जा सकता है कि देव-गुरु के दर्शन और उनके प्रेम-ममता कितने दुर्लभ और किमती है ? वो आप समझ गये हो ।

पति की क्षमायाचना :

अंजनासुंदरी पति के अपने लिए बोलें इन शब्दों को सुनकर शर्मिंदा होती है । पति नाथ है, खुद सेविका है । वो अपनी भूल, खुद के लिए हल्की बात तो सुन सकती है, पर नाथ की भूल कैसे सुन सकेगी ? इस कारण लज्जा अनुभव करती है । और वैसे भी खुद पलंग पर बैठी थी और अचानक पति ने अंदर प्रवेश कर ऐसी बात कही; इस वजह से भी शर्म की मारी तुरंत खडी हो गई । खंभे के सहारे खडी रहती है, पर पवनंजय उसे पलंग पर बिठाकर फिर से कहता है :

'हे प्रिये ! तुं बिलकुल निर्दोष है, फिर भी अपनी तुच्छ बुद्धि से मैंने तुझे बहुत सताया, मैंने क्षुद्र बुद्धि की, तुं मुझे क्षमा कर दे ।'

जीवन पर अधिकार क्षमा-दान के नहीं, कृपायाचना के ! :

अंजना कहती है : 'नाथ ! ऐसा ना कहो । मैं तो हमेशा के लिए आपकी दासी हुँ, इसलिए आपको मुझसे क्षमा नहीं माँगनी चाहिये । दासी तो बस अनुग्रह = कृपा के योग्य होती है ।'

अंजना हृदय से बस यही समझती है कि 'दोष पति का नहीं, अपने कर्मों का है । तब पति आज हँस के बात कर रहा है; ये उनका बडप्पन ही है ।'

आर्य संस्कृति की कितनी भव्यता कि महाअपराधी के प्रति भी विशाल हृदय में से भव्य उद्गार ही निकलते है । जीवन पर अधिकार क्षमा देने के नहीं, परंतु कृपायाचना के आजमाये जाते है !

पत्नी के स्थान, शिष्य के स्थान, पुत्र के स्थान, सेवक के स्थान पर रहने वालों की मर्यादा कैसी होनी चाहिये ? वो इससे अच्छी तरह जानने को मिलता हैं । पिता की-गुरु की शायद सचमूच में गलती है, फिर भी पुत्र या शिष्य को अंजना की तरह ऐसे ही उद्गार निकालने चाहिये कि, 'मैं हमेशा के लिए आपका दास हुँ । दास से क्षमा नहीं माँगते; दास तो कृपा का पात्र होता है' तो पिता-पुत्र और गुरु-शिष्य का संबंध कितना सुंदर बना रहेगा ? पुत्र और शिष्य की फर्ज कितने सुंदरता पूर्ण प्रकाशित होंगी ?

यदि जीवन पर सही अधिकार आजमाने हो, तो ऐसे समर्पित जीवन पर आजमाने जैसे है । मन में यह निर्णय होना चाहिये कि 'सुपुत्रपन या सुशिष्यपन मेरे हक है, इसलिए बुजुर्गो की गलती हो तो भी उसको गलती ना मानकर मात्र उनकी कृपा ही माँगेंगे ।'

पवनंजय रात रुक जाता है :

अंजना की सखी वसंततिलका और प्रहसित बाहर गये । पवनंजय ने रात्री वहीं बितायी और सुबह अंजनासुंदरी को कहता है :

'हे कान्ता ! मैं अब विजय हेतु जा रहा हुँ । नहीं तो हमारे बडे-बुजुर्ग को लगेगा कि मैं गया ही नहीं । तुं अब से जरा भी खेद मत करना । अब दुःख के दिन गये । सुंदरी ! सखी के साथ सुखपूर्वक रहना, मैं बस, रावण का कार्य खतम करके आया ही समझ !'

अंजना भी बोली : 'वो कार्य तो आप जैसे वीर को सिद्ध ही है । मात्र कार्य पूर्ण करके जल्दी चले आना, यदि मुझे जिंदा देखना चाहो तो । इतना प्रेम जताकर फिर आप दूर रहो, तो मेरा जीना मुश्किल है ! आपके जल्दी आने का दूसरा कारण यह है कि आज ही मैं ऋतुस्नाता हुई हुँ, इसलिए गर्भ ठहरना संभव है । यदि आपकी गैरहाजिरी में मैं गर्भवती हुई और दुर्जनों को पता चला, तो मेरी निंदा करेंगे, इसलिए कह रही हुँ कि शीघ्र वापस आ जाना ।'

पवनंजय कहता है : 'प्रिया ! मैं जल्दी ही आऊँगा और मेरे आने के बाद तेरे सिर कोई अनिष्ट आरोप को स्थान ही कहाँ ? या तो यह रख ले मेरे आने के सूचक रूप मेरे नाम की अंगुठी, जरूरत में इसका उपयोग करना ।'

यह बोलकर अपनी अंगुठी दे कर पवनंजय चला गया । मानसरोवर से सैन्य लेकर आकाश मार्ग से लंका नगरी में पहुँचा, फिर रावण भी किरणों से दिप्यमान सूर्य की भांति सब के साथ वरुण का सामना करने निकल पडा ।

९ महासती पर कलंक !

जीवन में स्याद्वाद :

देखिये; यहाँ 22-22 साल के बाद अंजनासुंदरी पर पति खुश होता है, आधे रास्ते से वापस आता है और बहुत प्रेम जताता है; यह सब उपर से देखने पर पुण्य का उदय अर्थात् अच्छा दिखता है । परन्तु इसके पीछे महाकटु परिणाम घटित होंगे, यह देख पति का गुप्त रूप से आगमन बडा दु:खदायी लगेगा । पति विमुख था तब जो दु:ख था, इससे भी भयंकर दु:खदायी यह लगेगा ।

इसका अर्थ क्या ? यही ना कि जगत की कोई भी वस्तु जितनी सुंदर हम समझ लेते है, उतनी सुंदर होती नहीं और जितनी खराब हम मानते है, उतनी खराब भी यह नहीं होती ।

- जिस लडके को खराब माना हो, वो सुंदर और जिसे सुंदर समझा हो, वो खराब निकलता है ना ?
- पकवान के भोजन को बढीयाँ मानते है, उसी से घबराहट, बेचेनी और अजीर्ण वगैरह की तकलीफ भी अनुभव कर सकते है ना ?
- श्रेष्ठ समझे वो मित्र भी दुष्ट निकल सकते हैं ना ?
- आम समझा हुआ इन्सान भी अवसर पर बहुत लाभदायी हो जाता है ना ?
- एक वक्त बडा आनंद देने वाली धन-दौलत (कमाई) ही दूसरे-तीसरे क्लेश, समस्या पैदा होने से चित्त को बुरी लगती है ना ?

बात यह है : दुनिया की अच्छी मानी हुइ चीज अवसर पर बुरी लग सकती है और अनिष्ट मानी हुइ चीज इष्ट लगती है ।

सामान्य मानी हुई बहुत खास और बहुत खास समझी सामान्य लगती है ना ? जब वस्तुस्थिति इस प्रकार की है तो फिर अच्छी समझकर रागांध और खराब जानकर द्वेषांध बनने की क्या जरूरत है ? इष्ट-अनिष्ट के संयोग-वियोग होने से दिल में जो राग और द्वेष उचलते-उभरते हैं, उन्हें दबाने की यह चाबी है कि मन यह सोचे कि 'जगत का कुछ भी सुंदर दिखने वाला इतना सुंदर नहीं, खराब लगनेवाला इतना खराब नहीं । अच्छा लगने वाले का शायद् अमुक अंश अच्छा हो, पर बाकी अंश खराब भी हो ! उसी प्रकार अनिष्ट भी दूसरे नजरियें से इष्ट भी हो ही सकता हैं । इसलिए मुझे तो स्याद्वाद् की दृष्टि से लेखा-जोखा करना है' मन इस प्रकार विचार कर स्याद्वाद् को जीवन में जीवित कर दे तो कितने ही दुखों से बच जायेगा ।

श्री देवचंद्रजी महाराज स्तवन में वीरप्रभु से विनंती करते है,

'विनति मानजो, शक्ति ए आपजो, भावस्याद्वादता शुद्ध भासे'

आम तौर पर रोजमर्रा की जिंदगी में कई घटनायें, कई प्रसंग बनते हैं, कितने ही व्यक्तियों और वस्तुओं के संपर्क में आते हैं, इससे भी आगे बढकर, यह कि जिसके साथ हमारा कुछ भी लेना-देना ही ना हो, ऐसा भी बहुत देखने को मिलता है, सुनने को मिलता है; इन सब के साथ स्याद्वाद (अनेकांत) दृष्टि से बर्ताव करे, तो कई क्लेश और पापबंधनों से बचा जा सकता है ।

- फिर परिवारजनों के प्रति एकान्त रूप से ममत्व नहीं होगा और विरोधीयों के लिए एकान्त रूप से शत्रुता भी नहीं,
- धन-माल पर अंधा राग भी न होगा और गरीबी आदि पर एकान्त रूप से अरुचि भी नहीं,
- पुत्र जन्म पर ना इतना हर्ष होगा, ना पुत्र मरण पर इतना शोक;

एक ही दृष्टि से यह बन आता है कि 'सुंदर इतना सुंदर नहीं, और बुरा इतना बुरा नहीं ।'

अंजना के जीवन में देखो अब कैसी विपदा खडी होती है । वो गर्भवती हो जाती है । एक ओर गर्भ बढता गया और दूसरी ओर शरीर-सौंदर्य विशेष खिलने लगा । गर्भवृद्धि के लक्षण भी दिखने लगे तो उसकी सास केतुमती तो आश्चर्यचकित ही रह गई कि 'यह क्या ? जिसका पति के साथ 22-22 वर्ष का वियोग है; ऐसी कुलवधू गर्भवती ?' उसे गुस्सा आ जाता है और वो उसको धुत्कारती हुई कहती है :

'अरे, पापिन ! दोनों कुल को कलंकित कर दें; ऐसा तुने यह क्या कर डाला ? तेरा पति तो देशान्तर गया है और तुं यहाँ गर्भवती बनी बैठी है ? मेरे मन में ऐसी सोच थी कि मेरा पुत्र ऐसी गुणियल स्त्री के प्रति अनादर करे; यह उचित नहीं है, नादानी है ! परंतु अब मुझे पता चला कि मेरे पुत्र ने तेरा त्याग क्यों किया था ?'

पति की गैरहाजरी में अंजनासुंदरी के लिए यह आरोप और तिरस्कार सहना बहुत ही असह्य हो गया । उसका दिल भर आया, आँखों में आँसू आ गये और रोते-रोते कहने लगी : 'आपके पुत्र बीच रास्ते से वापस आये थे, उसी का यह परिणाम है और आने की निशानी के रूप में यह अंगुठी मुझे दे गये थे ।' ऐसा कहकर अंगुठी दिखाकर शरम से मुँह नीचे करके बैठ जाती है ।

परंतु सास तो यह हकीकत मानने को तैयार ही नहीं होती । वह तो इसे झूठा बचाव ही समझती है । फिर ओर अधिक चिढकर कहती है : 'अरे ! जो तेरा नाम भी कभी नहीं लेता था, वो तुझसे मिला ? अंगुठी दिखाकर हमें धोखा देने की कोशिश कर रही है ? पर छल करके भी व्यभिचारिणी स्त्रीयाँ दूसरों को उल्टा सिखाने के बहुत सारे तरीके जानती हैं, किन्तु अब हम यह सब सहन नहीं करेंगे... ।

विचार करना जरा ! 22-22 वर्ष तक सतीत्व का पालन करते कितना कुछ सहने के बावजूद भी इस पर ऐसे गलत कलंक ! इसमें बाह्यजीवन पर क्या अधिकार पहुँचा ? उल्टा ऐसा भी होता है ना कि पति के साथ रहती हो और गुप्त व्यभिचार

चलाने वाली स्त्री भी सुशील नारी में गिनी जाती हो ! तब तो यह नियम भी कहाँ रहा कि गुण हो, तो यश मिलेगा ? और अपयश दोष के कारण मिलता है ?

हाँ, नियम यह सही है कि 'शुभ का उदय चलता हो, तो यश मिलता है, अशुभ का उदय शुरु हो जाए, तो अपकीर्ति, अपशय ही मिलते है ।' अर्थात् बात यह है कि हमारा अधिकार यश-कीर्ति पर नही, बल्कि गुणों के उपर ही है ।

अंजना ने बहुत सहन किया है, फिर भी जैसे कि कुदरत रुठ गयी हो वैसे सास उसे साफ-साफ सुना देती है :

'स्वच्छंदचारिणी ! निकल जा मेरे घर से और जा तेरे बाप के घर । यहाँ अब क्षणमात्र भी खडी मत रहना । यह घर ऐसे व्यभिचारी की हिफाजत करने वाला नहीं ।'

अंजना को बाहर निकाल दिया ! :

बेचारी अंजना को सास इतना ज्यादा फिटकारती-तिरस्कारती है कि यह सब उस महासती के लिए सहन करना अत्यंत दुष्कर होता है । कोई आश्वासन देने वाला नहीं । अरे ! इतना पूछने वाला भी नहीं कि 'रुक ! छान-बीन, जाँच-पडताल तो करें कि पवनंजय यहाँ आया था या नहीं ?' या फिर जल्दी ही किसी को पूछने भेज दें, पर यह तो निर्दय राक्षसी जैसी बनी हुई सास सिपाहीयों को बुलाकर कह देती है : 'जाओं, इसे इसके बाप के नगर में छोड आओं ।'

गुण के पक्षकार बनों, पर निर्दयी ना बनों :

देखिये विशेषता ! सिपाहीयों को ऐसे दौडाने है, पर बेटे से पूछना या कालक्षेप करना भी जरूरी नहीं समझा । मानव सुशीलता आदि गुणों का पक्ष लेते हुए भी कितनी ही बार उसके बहाने तले दूसरी ओर अघटित कार्य कर बैठते हैं, कठोर बन जाते हैं ।

कहते हैं : 'हम तो तनिक सा भी इधर-उधर नहीं चलायेंगे ।'

अरे भाई ! आपकी यह बात सही है, पर बिगडे हुओं को सुधारना आता है आपको ? या सिर्फ डंडा चलाना ही आता है ? गुणों का पक्षपात यह नहीं सिखाता की दोष वालों का तिरस्कार करो, दोषित की निंदा करो, उसके प्रति निर्दयता आचरो ।

यहाँ सास यह देखना भूल जाती है कि इस प्रकार से अंजना को उसके बाप के घर भेज देने से कैसी-कैसी कुशंकाएँ होगी और तिरस्कार होगा ! बस, हम तो गुणों के हिमायती; इस घमंड में सामने वाली व्यक्ति की क्या दुर्दशा, तकलीफ और परेशानी होगी ? इसका विचार ही नहीं ।

मानव की विचार शक्ति और उसकी कोमलता की परीक्षा यहीं होती है । संभव है कि किसी से भूल हो भी जाये, पर हृदय मुलायम रखकर उसे इस प्रकार सुधार लेना चाहिये कि उसमें भूल हो तो सुधर जाये ।

अपने पास होने वाले गुणों का अहंकार; यह भूल करनेवाले को अलगतावादी बना देता है, 'बस, अब तुं हमारे जैसा नहीं !' फिर उसे सुधरने का मौका ही कैसे मिले ?

यहाँ तो अंजना की भूल ही नहीं, फिर भी भूल की कल्पना से सास ने सिपाहीयों को कठोर आदेश दे डालें । सेवक इतने बेवकूफ नहीं थे कि अंजना के महासतीत्व को देखने के बाद उसे बदचलन मानने को तैयार हो जाये, पर करें भी क्या ? चाहे कुछ भी हो, है तो वो नौकर । इसीलिए नौकरी न करना ही अच्छा ! यह नौकरी, दिल को अप्रिय हो, आदर्शो के विरुद्ध हो, पाप का पोषण हो; ऐसे कितने ही कार्य करवाती है ।

अंजना के शोक का तो पार ही नहीं था । यहाँ उसे धीरज या आश्रय देने वाला कोई नहीं था । मात्र उसकी एक सखी वसंततिलका साथ रहने को तैयार थी । ऐसे सखा-सखी मिलने दुनियाँ में दुर्लभ हैं ।

महेन्द्रपुर में :

सेवक अंजना को वसंततिलका सखी के साथ रथ में बिठाकर ले गये और महेन्द्रपुर

के पास पहुँचे । हुकुम इतना ही मिला था कि उसके बाप के गाँव की सीमा तक छोड आओ, अर्थात् उसे यहीं पर ही छोड देना हैं, परंतु मन नहीं मानता । कहाँ वो एक बडे विद्याधर राजा की पुत्री ! एक पराक्रमी राजपुत्र की पत्नी ! और कहाँ उसे अकेले पैर घसीटते चलने की स्थिति ! और वह भी अपने स्वामी पवनंजय की पत्नी को इस स्थिति में छोड देना ! सेवकों को भारी दु:ख होता है, दिल भर आया, हृदय रो रहा था, आँखों से आँसू बह रहे थे । अंजना सखी के साथ रथ से उतर जाती है । सेवक माता की तरह उन्हें नमस्कार करके क्षमा मांगते है ।

माता पत्नी को सिपुर्द :

कवि कहते है : 'सेवक अंजना को माता की तरह-माता समान पूज्य मानकर नमस्कार करते हैं ।' याने ? आर्यप्रजा में माता को नमस्कार यह तो एक सहज कर्तव्य है । दिल में माता के असंख्य उपकार याद हो और उसके प्रति अति पूज्यभाव हो, तो नमस्कार सहज ही हो जाता है और ऐसे नमस्कार करते रहे, तो यह पूज्यभाव भी जगा रहेगा ।

आजकल यह देखने कहाँ मिलेगा ? छोटे बच्चों को भी आज माँ को नमन करते शरम आती है ! परिणाम ? बच्चों का बडे होने के बाद माता पर वैसा भक्तिप्रेम तो होता नहीं, इसलिए पत्नी के प्रेम में अंध हो कर माता को पत्नी की सेवा में सौंप देता है । पत्नी की दया का पात्र बना देता है । कैसी करुण दशा !

जबकि अब तो सर्व प्रकार से माता को निवृत्त करके जीवनभर खुद और पत्नी को उनके पूजक बन कर रहने का अवसर है, ऐसे मातृभक्त जीवन के अधिकार भुगतने का मौका है, उसके बदले पत्नी का पक्षपात भरा जीवन और माता के चित्त को रात-दिन का क्लेश और अशांति; क्या है यह ? कृतज्ञता दर्शाने जितनी मानवता भी पुत्र में कहाँ रही ? आज कितनी माताओं को संतोष है ?

क्षमा महाधर्म :

राजसेवक माता की तरह अंजनासुंदरी को नमन करके उनसे क्षमा माँगते है । उनका कोई कसूर या गुनाह है क्या ? नहीं ना, फिर भी क्षमा क्यों माँगी ? इसीलिए कि

दूसरों द्वारा होने वाले अकार्य में अथवा उसे दु:ख देने में उनको स्वयं भी एक निमित्त बनना पडा । सज्जन स्वयं तो कोई अकार्य नहीं करते और ना ही किसी को दु:ख देते हैं, किन्तु दूसरों के अकार्य में सहयोगी भी नहीं बनते हैं । यहाँ मजबूरीवश बनना पडा, इसलिए क्षमा-प्रार्थना ।

क्षमा माँगना और देना; ये महान धर्म है । क्षमा का आदान और प्रदान; मानव जीवन में ही है; ऐसे जीवन पर अधिकार मानना चाहिये । क्षमाधर्म बिना का कहलाता शुद्ध व्यवहार भी शुष्क व्यवहार है, मानवता वाला व्यवहार नहीं । आज तो अंग्रेज लोग भी बात-बात में 'Beg your pardon, excuse me, sorry-आपसे माफी माँगता हुँ, क्षमा करें, दिलगीर हुँ' आदि शब्दों का प्रयोग करते है, तो भव्य आर्यसंस्कृति वाली भारतीय प्रजा की कितनी ऊँची स्थिति होनी चाहिये ? पर आज अहं का ग्रह बैठा है सबकी कुण्डली में, इसलिए अभिमान से फुले नहीं समाते और क्षमा माँगने की नम्रता-मृदुता नहीं रहती ।

पर भूलना मत कि (क्षमा सिवाय के) दूसरें जीवन पर अधिकार महँगे और अनिश्चित होते है, जबकि क्षमा माँगने-देने आदि जीनव के अधिकार निश्चित भी, सस्ते भी और हमारे हाथ में भी है ।

सेवकों ने लुक्खे हृदय से यदि अंजना को कह दिया होता कि 'जाओं अपने पिहर, हमारा कार्य पूर्ण हुआ, अब हम चलते हैं' तो चलता ना ? पर ऐसा न करके नमस्कार पूर्वक क्षमा माँगते हैं : 'क्षमा करना, बाईसाहब ! आपकों हम यही तक छोड पायेंगे । क्या करें ? अधम ऐसी गुलामी से बंधे हुए हैं, वरना आपको आपके घर तक पहुँचाते ।' यह कह कर वो वापस मुडे ।

रात जंगल में :

सूर्यास्त हो जाने के कारण अंजना और उनकी सखी नगर में जाने के बदले बाहर जंगल में ही रात बिताती है ।

देखिये, एक ओर पवनंजय लडाई लडने गया है और यहाँ भी कर्मो की लडाई चल

रही है ! वहाँ शायद् पवनंजय जीत हासिल कर भी ले, पर यहाँ तो जीत कर्मो की और हार जीव की है । कर्मो का कानून जीव को परेशान करता है । इसको टालने के लिए जीव कुछ भी नहीं कर सकता । अंजना और उसकी सखी को जंगल में जाना पडा । सूर्य भी अस्त हो गया । क्या पता शायद् यह सूचना दे रहा था कि सत्पुरुष दूसरों के दु:ख देखने में समर्थ नहीं होते ।

अंजना ने जीवन में जो भयंकर प्रसंग नहीं देखे, वो इस रात्री में जंगल में उसे देखने को मिले । जैसे उल्लुओं की भयंकर चिखें, गीदड की जोरों की आवाज आ रही थी । भेड (wolf) चिखें और दूसरे जंगली जानवरों की भी रोने की आवाजे उठ रही थी, जैसे कान फट जाए, वैसी इन आवाजों से दिल जोर-जोर से काँप रहा था । अंजना डर के मारे काँपने लगी । पर करें क्या ? भाग के भी कहाँ जाये ?

संसार की करुण कहानी :

जीवन में जो कभी नही देखे, ऐसे भी अवसर सामने आ जाते है ना ? पूर्व कर्मो की भयंकरता है । **संसार की यह करुण कहानी है कि कर्म का बंध जब होता है, तब कर्म दिखतें नहीं है, पर जब कर्म का उदय होता है, तब कर्म प्रतिक्षण 'देखते हुए' भुगतने पडते है ।**

क्या समझें ? हिंसादि पापों में रमते हुए, आहारादि संज्ञाओं में रचबसते हुए और क्रोधादि कषायों में लीन रहते हुए हमें होने वाले कर्म के बंध दिखते नहीं; पर उनका उदय आये, तब एक भी पीडा ऐसी नहीं होती कि ध्यान ना हो; अर्थात् प्रतिक्षण हमारा ध्यान पीडा की तरफ ही रहता है ।

अधम आत्मा और महान आत्मा में फर्क यह होता है कि अधम आत्मा को कर्म के कडवे विपाक (= फल) के समय दु:ख अचूक ध्यान में आता है, मगर कर्म का बंध ध्यान में नहीं आता । जबकि महान आत्मा को कर्म का बंध अचूक ध्यान में होता है, परन्तु कर्म विपाक की परवाह नहीं

होती । पाप के उदय को-दु:ख को नझरअंदाज कर के नये कर्मो का बंध ना हो जाए; इस पे ध्यान रखते है महात्मा ।

अब जीवन अधिकार विचारने जैसा है । दोनों ही अधिकार हैं, कौन सा अधिकार आजमाना; यह अपने बश की बात है ।

(i) 'अरे रे ! यह कैसा दु:ख आया । ये कैसी भयानक पीडा ! उसने मेरा बिगाडा ! क्या करुँ ? कहाँ जाऊँ ?.....' इस प्रकार के दुर्ध्यानमय दु:खदर्शन के भी जीवन-अधिकार है; तब

(ii) 'जीव ! सावधान रहना ! क्योंकि मन बिगाडने से शोक, उद्वेग करने से, असमाधि-दुर्ध्यान में सुलगते रहने से, क्रोधादि कषायों में रमने से, नये कर्म न बंध जाये । ज्ञानावरणीयादि कर्मो का बंध ना हो जाये ।' यह भी जीवन अधिकार है ।

परन्तु आजमाने जैसा है दूसरा अधिकार, यानि की 'कर्मबंध न बढे; यह ध्यान रखना मेरा हक है । सावधानीपूर्वक यह अधिकार आजमाने से आत्मा 'महात्मा' बन सकती है । पहले जीवन अधिकार से दु:ख ही गिनने-रटने में तो अधम दशा में ही रह जायेंगे । अंजना को दु:ख है, परंतु उसकी दृष्टि कर्मबंधन की तरफ है, इसीलिए वो किसी पर भी रोष नहीं करती, रात्री युंही बीताती है ।

१० पिहर से रुखसत

पिता के द्वार पर :

प्रभात होते ही अंजनासुंदरी अपने पिहर पहुँचती है । महासुशील होने के बावजूद भी उसके सिर पर जो कलंक लगा है, उसका उसे भारी उद्वेग है । इस कारण वो बेचारी दीन सी बन गई है । पैरों में जैसे शक्ति ही नहीं बची, शरम के मारे धीमी-धीमी चलती है; और बडे परिवार की शोभा बनने योग्य यह आज परिवार रहित एक भिखारन की तरह पिता के द्वार पर खडी है ।

एक समय जिसे 'कुंवरबा, कुंवरबा, बहेन, बहेन' की जहाँ पुकार और प्यार मिलता था, देखना ! वहाँ उसी जीवन में कैसे तिरस्कार किया जाता है ! ऐसे क्षणिक मान और क्षणिक सुख पर गर्व या निश्चिन्तता का अनुभव करने में समझदारी है क्या ?

महल के द्वार पर खडा हुआ चौकिदार अंजना को देखकर चकित रह जाता है और पुछता है : 'यह क्या हुआ ?'

सखी वसंततिलका उसे सारी हकीकत बयान करती है । वो जाकर राजा से सारी हकीकत कहता है ।

राजा पिता है, हकीकत कहने वाली विश्वासु है, तब क्या राजा को ऐसा नहीं लगना चाहिये कि, 'बेचारी बिटीयाँ निर्दोष होने के बावजूद भी और उसे 22-22 वर्षों के बाद पति का सुख मिलने पर भी उसकी सास ने उसके सिर पर यह कैसा कलंक लगा दिया ? पर नहीं, सखी के द्वारा किये गये स्पष्टीकरण पर विश्वास आये, तब ना ? उन्हें तो अंजना की सास की कल्पना पर विश्वास है !

भूलना मत; अंजना के पूर्व के अशुभ कर्म उदय में आकर यह कार्य कर रहे है कि अनजानी (गलत) कल्पना सच्ची मानी जा रही है और सत्य के स्पष्टीकरण पर विश्वास नहीं हो रहा है । इसके अलावा दूसरा क्या कारण दे सकते है ?

इसलिए इससे ही भवांतर का, आत्मा का और शुभाशुभ कर्मो का प्रमाण मिलता है और इनका होना सिद्ध होता है । बुद्धि के सामने ये अशुभ कर्म ऐसे आवरण खडे कर देता है कि जिससे सच्चा ख्याल आता ही नहीं । यह तो जब कर्म कमजोर हो जायेंगे, तभी सच्ची और सही समझ आयेगी । उसके बाद तो सिर्फ समझ नहीं, परंतु भारी पश्चात्ताप भी होगा । पर अभी इस वक्त तो मानो कि कर्म कह रहे हैं : 'खबरदार ! इसको निर्दोष माना तो ?' इसलिए राजा उसको दोषित समझकर क्षोभित और शर्मिंदा हो जाता है । उनका सिर झुक जाता है ।

उन्हें विचार आता है कि, 'ओह ! अंजना ने ऐसा किया ?' पर हाँ, जैसे भाग्य के विपाक की खबर नहीं होती, वैसे ही स्त्रीयों के चरित्र की भी खबर नहीं होती । परंतु अब ये कुलटा लडकी तो कुल को कलंकित करने यहाँ घर चली आयी है । यह यहाँ सिर्फ रहेगी तो भी हमें कलंक लगेगा । काजल की जरा-सी कालिख भी उजले वस्त्र को दूषित कर देती है ।'

आर्यसंस्कृति सदाचार पर टीकी है :

भले ही सास की तरह पिता ने भी बिना कोई जाँच-जानकारी प्राप्त किये ही यह विचार किया और फिर इस प्रकार का कठोर व्यवहार किया; यह बहुत ही अनुचित है, परंतु इससे एक ख्याल आता है कि उत्तम कुल में सदाचार के लिए कितना ज्यादा महत्त्व और प्रेम होगा कि अजीज बेटे-बेटीयाँ भी जो दुराचारी हो, तो उनके सामने देखते भी नहीं, तो फिर दूसरे लाड-प्यार की बात ही कहाँ ?

संस्कारी जीवन की यही विशेषता है कि भले ही अवस्था घरबारवाली अर्थात् कि संसारी भोग-वैभव की है, फिर भी मर्यादा के बाहर का बर्ताव यानि दुराचार और अयोग्यता का बर्ताव मान्य नहीं । कुटुंब के किसी भी व्यक्ति का ऐसे व्यवहार मान्य करना पसंद ही नहीं ।

जंबूकुमार के काका जुगार आदि भारी व्यसनों में पड गये, जंबूकुमार के पिता ऋषभदत्त के बहुत-बहुत समझाने-धमकाने पर भी आखिर ना सुधरें, तब उन्हें घर

से निकाल दिया गया ।

प्रेम की कमी नहीं थी, परंतु आर्य के मन दुराचार का जीवन अर्थात् असह्यवस्तु । इस कारण ही पवित्र आर्य-संस्कृति लाखों-करोडों वर्षो तक नहीं, बल्कि युगों-युगों से टिक पायी है । इसका नाश जो होता आ रहा है, वो भी दुराचार को चलाने के कारण ही !

नौंवे तीर्थंकर देव श्री सुविधिनाथ भगवान के शासन का विच्छेद इसी वजह से हुआ, सदाचार की मर्यादा भंग हुई और विरुद्ध आचारों का आचरण हुआ ।

इधर अंजनासुंदरी के बारे में कुछ भी सच्चाई जाने बिना सास ने उसे निकाल दिया और इधर पिता ने भी जो कदम उठाया, वो भी बिलकुल अयोग्य है ।

जब गहरे विचारों में खोये हुए पिता को उदास देखा, तो उनका पुत्र प्रसन्नकीर्ति कहता है : 'पिताजी ! इसने तो हमारे कुल को दुषित किया है, तो आप सोच क्या रहे हो ? निकाल दो इसको देश बाहर । क्या बुद्धिमान मनुष्य ऊँगली पर साँप डसने से उस ऊँगली को काट नहीं फैंकता ?'

उसके इस वचन पर महोत्साह नाम का प्रधान राजा को कहता है कि, 'महाराज ! सास से मिले दु:ख में तो बेटी को पिता का ही शरण है, तो ऐसे विचार किसलिए कर रहे है ? और आपको अंजना पर शंका हो रही है, परंतु क्या यह खबर नहीं है कि केतुमती तो सास है, इसलिए वो क्रूर बनकर जो भी चाहे वो दोष का बहाना बनाकर निकाल दे, तो इसमें क्या नयी बात ? विचार आपको करना है; जब तक अंजना दोषी या निर्दोष होने का आपको पक्का सबुत ना मिले, तब तक गुप्त रीति से इसका पालन करें । कुछ भी हो, है तो आपकी अपनी ही बेटी; इसलिए उस पर दया करो, क्रूरता नहीं' मंत्री ने समझदारी की बात कही ।

संसार के अवस्थित भाव : संसार भावना :

सास की पहचान कैसी करवायी ? हालाँकि जगत में अच्छी सास भी होती है, नहीं है ऐसा नहीं; परंतु सामान्य रीत से लोगों के भाव अमुक-अमुक बातों पर कुछ

निर्दिष्ट जैसे बन गये है, उन्ही में से यह भी एक भाव है कि, माता-पिता दयालु और वात्सल्य वाले, जबकि सास क्रूर और द्वेषवाली ! ऐसे-ऐसे तो कई विचित्र भाव संसार में हैं ।

'संसार भावना' नाम की तीसरी भावना में यह सब विचार करके आत्मा को संसार के प्रति उद्वेगभाव जगाना; यह बात शास्त्र कहते हैं । जीवन में घटने वाले दु:खद या आनंददायी प्रसंगों को संसार भावना की दृष्टि से देखा जाये, तो चित्त को उद्वेग या हर्ष नहीं होगा ।

कहीं ऐसा दिखता है कि, 'अरे ! इसने ऐसा किया ?'

वहाँ उसी पल यह विचारना चाहिये कि 'भाई ! आश्चर्य या खेद करने जैसा नहीं है, क्योंकि आखिर तो ये संसार के भाव ही है ना ? संसार में सहज ही विचित्र, अघटित और अनचाहा होता है । अनंतानंत काल से संसार चला आ रहा है, उसमें ऐसा अनेक बार घटित होता है....' इस प्रकार के विचार से मन निश्चिंत, प्रसन्न और शांत बनकर कितने ही दुर्ध्यान से बचता है ।

पिता ने निकाल दिया :

मंत्री ने सास की प्रकृति की दृष्टि से अंजना का बचाव तो किया, परंतु राजा इसका उत्तर इस प्रकार देते है : 'बात सही है । सास हर जगह ऐसी ही होती है, परंतु साथ ही यह बात भी पक्की है कि पुत्रवधू के इस प्रकार के आचरण भी कहीं देखने को नहीं मिलेंगे; जबकि हमने तो पहले भी सुना था कि इस अंजना के प्रति पवनंजय को द्वेष था, तो विचार करने योग्य तो है ही ना कि उस पवनंजय से वो गर्भवती कैसे हो सकती है ? बस ! इसके आचरण में ही कुछ गलत है, इसीलिए तो ससुराल से उसे निकाल दिया । यहाँ से भी उसे जल्दी रवाना करों । उसका मुँह भी हमें नहीं देखना ।' ऐसा कहकर द्वारपाल को आज्ञा देकर अंजना को वहाँ से बाहर निकाल दिया गया ।

बाहर के जीवन पर अधिकार आजमाना व्यर्थ है :

जहाँ एक समय बरसों तक अत्यधिक लाड-प्यार और मान-सम्मान से पाली गयी थी, वहीं पर ही आज अत्यधिक द्वेष और तिरस्कार सहन करने पडे ! बीता हुआ याद् करके ऐसे लाड-प्यार भरे जीवन पर इस समय अधिकार आजमाने जाये तो ?

'आप इतना मान और प्रेम दिखानेवाले आज इस प्रकार क्यों बर्ताव कर रहे हो ?'- ऐसा कहने जाये तो ? ऊपर से मार ही पडेगी ना ?

स्वयं बिल्कुल निर्दोष है, फिर भी ऐसे अधिकार नहीं रख सकती; यह क्या सूचित करता है ? यही कि बाहर के सुख-सुविधाओं भरे जीवन पर अधिकार करना गलत है, फिजुल है ।

यहाँ नगर के लोग अंजना को बाहर निकालते देख दु:खी होते हैं, चीख-पुकार करते हैं, परंतु सत्ता के आगे होशियारी किस काम की ? कोई उसे बचा सकता नहीं । अंजना खुद् भूखी-प्यासी-थकी हारी है, पर उसके सामने देखने वाला भी कौन ? कर्म रुठ जाने के बाद् दु:खों और मुसीबतों का कोई पार नहीं ! कोई रक्षा करने वाला नहीं ! कोई शरम से भी साथ निभाने वाला नहीं !

अंजनासुंदरी सुशील है, निर्दोष है, राजपुत्री और राजकुमार की पत्नी है, फिर भी भयंकर कलंक, भयंकर अपकीर्ति और भयंकर तिरस्कार के साथ देशनिकाल ! हम दु:ख आने पर घबरा जाते हैं, पर ऐसे प्रसंग नजर के सामने रखने जैसे हैं । लोगों का प्यार है, इसलिए कोई आश्रय देने वाला निकले, परंतु यहाँ तो राजा का कडा आदेश पालने वाले सिपाही जरा-सी भी ढील दें; ऐसे नही हैं ।

सर्वत्र तिरस्कार ! जंगल के मार्ग पर अंजना :

अंजना को सीधी नगर के बाहर निकाल देते हैं, इतना ही नहीं; परंतु आगे भी किसी गाँव या नगर में प्रवेश करने जाये, तो वहाँ पिता राजा ने भेजे हुए लोग उसे प्रवेश देने से रोकते हैं ! सभी जगह से तिरस्कार करके निकाल देते हैं ।

जीव मरकर परलोक में जाता है, वहाँ कर्मो से तिरस्कृत होता है, उसमें कोई रक्षण नहीं मिल पाता, वैसे ही अंजना को यहाँ भी कोई रक्षण नहीं मिलता है । ज्यादा परेशानी की बात तो यह है कि कर्म तो दुश्मन ही है, वो तो परेशानीयाँ खडी करता ही है, परंतु यहाँ तो खुद पिता और उनके लोगों की तरफ से त्रास और जुल्म है ।

गाँव-नगर में कहीं स्थान नहीं मिलता है । इस परिस्थिति में अंजना जंगल का मार्ग अपनाती है । रास्ते में काँटे-कंकर चुभते है ! पैरों से खुन निकलने लगता है । ऊँची-नीची जमीन और उस पर भूख-प्यास की पीडा, वो कदम-कदम पर ठोकर खाती है । दिल में धीरज नहीं रहती । हृदय रो उठता है । आँखों से आँसु निकल पडते है । जोर-जोर से रो पडती है, तो ऐसा लगता कि जैसे दिशाओं को भी रुला रही है । इतनी समझदार और सहनशील ऐसी अंजना भी रो पडे, तो जरा विचार सोचना उसका दु:ख किस हद तक असह्य होगा !

विषय सेवन का अपराध :

इन सब का निमित्त क्या ? गर्भवती हुई, इसीलिए सास ने सब धमाल मचाई ना ? गर्भवती क्यों हुई ? विषय सेवन से । इसका अर्थ ये हुआ कि विषय सेवन के कसूर के कारण यह घोर दु:ख सहने पडे । तो ज्ञानी क्या गलत कहते हैं कि, 'विषय के सुख अल्प और दु:ख अनंत !'

जंबूकुमार अपनी आठ स्त्रीयों से कहते है :

'जंबू कहे सुख विषयनुं अल्प, अपाय अनंत !'

एक-एक इन्द्रियों के विषयों का सेवन भयंकर है, ऐसे भयंकर दु:खद विषयों की खातिर, आश्चर्य है कि जीव कितना क्लेश करता है ! जीवन में कितने दुर्गुणों और दुष्कार्यों का आचरण करता है ! विचार करना;

- उदार मीटकर क्षुद्र बनता है, तो किस की खातिर ?
- सत्य छोडकर झूठ बोलता है, तो किस कारण ?

- अनीति, ईर्ष्या, वैर, विरोध, जुल्म, प्रपंच, निर्दयता, स्वार्थांधता; इन सब मानवभव की नीलाम किसके लिए ?

विषयों के लिए ही ना ? ये विषय अंत में क्या देने वाले है ? अनंत दु:ख या और कुछ ? फिर भी इसके पीछे इन्सान अपनी इन्सानियत छोड हैवानियत करता है, जंगली बन जाता है ।

दोष, दुर्गुण और दुष्कार्य का आचरण करने से पहले इतना ही विचार करना कि, 'यह सब किस लिए कर रहा हूँ ? धोखेबाज विषयों की खातिर ? भले ही मुझे कम मिले, थोडे से ही संतोष मान लुँगा, पर विनश्वर और विनाशक विषयों के पीछे मुझे अधम नहीं बनना, अपनी उत्तमता को नहीं खोना ।'

सब कुछ आत्माराम पर आधारित है :

अंजनासुंदरी भटकती-भटकती किसी महाजंगल में आ पहुँची । वहाँ पर्वत है, लता मंडप है, देखने में रमणीय भी है, परंतु अब इससे क्या ? जब दिल अशांत, व्याकुल हो, तो कुछ भी रमणीय सा नहीं लगता ।

सब कुछ आत्माराम की स्थिति पर निर्भर है । आत्माराम ही यदि ठिकाने पर नहीं, आत्माराम को ही शाता नहीं, स्वस्थता नहीं, तो बाहर के दृश्य कितने भी रमणीय हो, पर मन को अरमणीय ही प्रतीत होते हैं ।

यह वस्तु आत्मतत्त्व के अस्तित्व का महान प्रमाण है । वही की वही सुंदर दुनियाँ; जो एक समय बडी सुंदर-सलोनी सी थी, तो आज अब क्यों नापसंद सी लग रही है । काया तो ऐसी की ऐसी ही है ! पर कहीये कि अंजना के आत्माराम व्याकुल बने है । उदा: बंगला, बगीचा, पैसा से लगाकर काया तक सब बराबर है, परंतु परदेश से पुत्र के करुण मौत के समाचार आने से आत्माराम को भारी शोक-उद्वेग की व्याकुलता होती ही है । इसके बाद बाकी का सब बंगला, बगीचा, संपत्ति व्यर्थ सा प्रतीत होता हैं, महत्त्वहीन सा लगता हैं । यही आत्मा की प्रधानता का सूचक है ।

इसलिए इन्सान यदि विचार करें, तो यह समझ आता है कि यदि हमारी आत्मा स्वस्थ हो, तो बाहर का सामान्य भी मजेदार लगता है और अस्वस्थ हो, तो बाहर का, आसपास का अच्छे से अच्छा भी खराब लगता है ! अर्थात् स्वस्थता का ही महत्त्व है; तो सच्ची कोशिश तो स्वस्थता अखंड रखने की ही करनी चाहिये ।

प्रशमरति, योगशास्त्र आदि शास्त्र ऐसे प्रयत्न में निर्मल भावनाओं का ही बल रखने का कहते हैं ।

- बल शुभ भावनाओं का ही रखों, उसे बार-बार मन में भाते रहो ।
- जीवन के प्रसंगों को तत्त्वदृष्टि से निहारों ।
- पदार्थो में, प्रसंगो में जो भी अंश आत्महित के अनुकूल हो, उसे ढूँढ निकालो और उस हिसाब से प्रतिकूल पदार्थ-प्रसंगादि को अनुकूल समझों ।
- आत्मा के वीतरागता, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध सुखस्वरूप को हमेशा के लिए दृष्टि में रखो ।

यह सब उपाय है आत्माराम को ठिकाने रखने के ।

अंजना का करुण विलाप :

अंजनासुंदरी ने सास के तिरस्कार से ले कर एक-के-बाद एक इतने दु:ख आये... भूख, प्यास, काँटें, कंकर वगैरह तो ठीक है, पर पिहर से भी फटकार दिया और देशनिकाला दिया, फिर हर गाँव से धुत्कारा गया, वगैरह इतने दु:ख आये कि अब उससे सहा नहीं जा रहा था, इस कारण आत्मा की स्वस्थता रखनी मुश्किल बनी । फिर जंगल, पर्वत, लता मंडप आदि की मनमोहकता भी कुछ शांति ना दे पायी । वहाँ वो अपनी सखी के साथ एक पेड के नीचे बैठी और इस प्रकार से करुण विलाप करने लगी कि,

‘अहो ! मैं कैसी कमभागी हूँ कि मुझे मेरे बडे-बुजुर्गों ने बिना कुछ विचार किये, सीधी ही सजा दे दी, और फिर मेरे अपराध की विवेचना की । तब,

- ओ सासु केतुमती ! आपने सही किया कि आपके कुल को कलंक से बचा लिया
- ओ पिता ! आपने भी कलंकित संबंधी को रखने पर होने वाले भय से डर कर सही सोचा !
- ओ माताजी ! दुनियाँ में तो जीवों को दु:ख के समय माता आश्वासन देने वाली मानी जाती है, पर आपने तो पति की इच्छा का अनुसरण कर मेरी उपेक्षा करके ठीक ही किया !
- हे भाई ! पिता के जीवित रहते आपका तो दोष भी नही गिना जायेगा !
- ओ नाथ ! एक आपके दूर रहने से सब मेरे दुश्मन से बन गये !

मैं तो कहती हुँ कि जैसे हीनभागी में शिरोमणी जैसी मैं नाथ के बिना जी रही हूँ, वैसे कोई भी स्त्री का नाथ बिना एक दिन भी मत जीना ।’

अंजनासुंदरी ने कलंक, फटकार वगैरह सब सहन करके भी उसमें निमित्त बनने वाले किसी पर भी गुस्सा या वैर रखें बिना; उस धिक्कार के खिलाफ एक भी दुहाई व शिकायत किये बिना, अपने दिल का दर्द विलाप करके निकाल दिया और सास, पिता आदि को उनके कार्य को सही गिना ! हृदय पर कितना नियंत्रण होगा कि ना कोई अनुचित विचार, ना ही अशिष्ट विचार या उच्चार !

मानव प्राणी की उच्चता को तब पा लिया कहा जाता है; जब विचार, वाणी, बर्ताव पर सुंदर काबु रख पाते हैं । किसी भी प्रकार का अधम विचार नहीं, ऐसे-वैसे शब्द नहीं । इस दृष्टांत से पुरुषों को तो कितना अपने आप पर अंकुश रखना चाहिये; यह तो आप खुद ही विचार कर लेना ।

संतो और सतीयों के दृष्टांत से तो महात्मा का जीवन जीने की चाह रखने वालों को तो भव्य प्रेरणा और बल मिलता है, कौआ-कुत्तीयाँ जैसे अधम आत्माओं का जीवन जीना हो, तो उनके लिए तो कोई बात है ही नहीं ।

उत्तमता की कसौटी :

अंजना का आत्मारूपी सुवर्ण अभी दु:खरूपी अग्नि में तप रहा है ।

- कौन तपा रहा है ? भाग्य नहीं, क्योंकि यह बेचारा तो जैसे जीव ने उपार्जित किया था, वो ही दे रहा है, अपना हिसाब बराबर कर रहा है ।
- तो कौन तपा रहा है ? उसकी सास ? उसके पिता आदि ? नहीं, उन्हें कौन-सा इस प्रकार से परीक्षा करने का मन है ? वो तो अंजना की सच्ची स्थिति से अनजान होने के कारण यह अज्ञान चेष्टा कर रहे है ।
- तो आखिर अंजना को तपा कौन रहा है ? कहो, 'उसकी उत्तमता !' जैसे कि उत्तमता कह रही है कि 'वीरता से सहन करो और बताओ अंदर का सत्त्व ! आप चाहे कुचल ही क्यों ना दिये जाओ, पर जरा भी किसी का बुरा चाहना नहीं । आपकी महादुर्दशा करनेवाले व्यक्ति का भी बुरा चाहना नहीं । उत्तम हो इसीलिए ही तो सहना पडेगा...'

क्या समझे ? उत्तम हो, इसीलिए सहन कर ही लेना चाहिये । अधम, अज्ञानी जीव को तो सहने जैसा कुछ है ही नहीं... यह तो ऐसा कुछ भी प्रसंग बने, तब प्रतिकार में बहुत उत्पात मचाते हैं ! न सोचने योग्य सोचते हैं, ना बोलने योग्य बोलते हैं, ना आचरने योग्य आचरण करते हैं । ऐसी सब दुष्ट और अयोग्य प्रवृत्ति से जीव को अटकाने वाला कोई है, तो उत्तमता का ख्याल ही है, इसीलिए कहते है कि 'उत्तमता कसौटी कर रही है ।'

इतने-इतने दु:ख आये, फिर भी दुष्ट विचार-वाणी का उपयोग नहीं करना चाहिये ना ? सुवर्ण की सुवर्णता उसका गुण है, चाहे जितनी भी गर्मी लगे, वो जरा सा

भी फिक्का नहीं पडता है ना ? तभी पास होता है, और फिर ही तो राजा या देवाधिदेव के मस्तक पर मुगुट रूप में सज सकता है ।

ऐसा ही उत्तमता में भी है, जिसे उत्तमता पर अधिकार रखना हो, उसे यह समझ लेना चाहिये कि सहन हमें ही करना पडेगा, फिर भी प्रतिकार में हमें दुष्टों की तरह आचरण नहीं करना, दुष्ट विचार तक नहीं करना । उत्तम जीवन पर अधिकार रखना है, इसलिए सिर्फ सहने की बात ।

पर्वत की गुफा में :

अंजनासुंदरी का करुण विलाप सुनकर उसकी सखी वसंततिलका का हृदय भर आया । जंगल के बीच जंगली पशुओं का खतरा, वहाँ पर अंजना ऐसे रोती हुई बैठी रहे; यह ठीक नहीं, इसलिए सखी ने उसे समझा कर आगे बढाया ।

क्या समझाया होगा ? अंजना की उत्तमता जैसा ही ना ? क्यों ? उत्तम स्त्री की सखी है और उत्तम स्त्री के सामने ही बोलना है, इसलिए समझ भी उत्तम ही दी जानी चाहिये । यही समझाकर ले गई एक पर्वत की गुफा में । दोनों भूखे-प्यासे है, पर वहाँ कोई खाना-पीना तैयार ? कोई खाने की चीज ? भगवान-भगवान करो । वहाँ तो पत्थर की शीला थी बस, फिर भी एक ऐसी चीज मिली, जिससे उनके दिल को नयी स्फूर्ति मिली ।

महात्मा का योग :

बात यह हुई कि ये दोनों पहुँचे उसके पूर्व भाग्ययोग से वहाँ चारणमुनि अर्थात् आकाशगामी विद्या के जानकार साधु, अमितगति नाम था उनका, वह आकर गुफा के अंदर ध्यान कर रहे थे । उनको अंजना और वसंततिलका ने देखा और देखकर खुश हुए । विनयपूर्वक प्रणाम किया और फिर उनके सामने जमीन पर बैठ गये ।

महर्षि ने भी ध्यान पूर्ण किया और दाया हाथ ऊँचा करके धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया । कैसा आशीर्वाद ? मनोवांछित रूपी महान बगीचे के लिए पानी की मोरी

समान । यह उसे नवपल्लवित कर देता है, वैसे ही धर्मलाभ की आशिष दोंनों को नवपल्लवित कर देते है, उनमें नयी स्फूर्ति आ जाती है ।

महात्मा के दर्शन और करुणापूर्ण धर्मलाभ की आशिष चीज ही ऐसी है, ये चीज आमतौर पर खानपान, धन-दौलत कुछ नहीं देती, फिर भी अपूर्व हर्ष देती है, अद्‍भूत धर्म प्रेरणा देती है, जो मनोवांछित रूपी बगीचे को सिद्ध कर देती है ।

महात्मा के दर्शन-समागम की बलिहारी है ! इसका अनुभव करने वाला ही समझ सकता है कि इससे मन कितना निश्चिंत-प्रसन्न हो जाता है, उल्लसित हो जाता है, पाप बुद्धि बहुत ज्यादा मंद हो जाती है, अंतर में नया चैतन्य स्फूरित हो उठता है ।

वसंततिलका भी सखी के दु:ख से भारी दु:खी थी, ऐसे समय महात्मा का पुण्ययोग होने से मन उल्लसित हुआ । उनको फिर से भक्तिपूर्वक नमस्कार करके पहले से लेकर आज तक अंजना के सिर पर बरसने वाले दु:ख की सारी बातें कही । महात्मा के सामने इतना कहने मात्र से ही दोनों के दु:खों का भार एकदम हल्का हो गया ।

वसंततिलका उन्हें पूछती है : 'प्रभु ! इस अंजना सुंदरी के गर्भ में कौन अवतरित हुए है ? और उसे यह दशा किस कर्मवश प्राप्त हुई है ?'

अंजना के पुत्र हनुमान का पूर्वभव :

मुनि कहते है : 'भद्रे ! इस जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में मंदर नाम का नगर है, वहाँ प्रियनंदी नाम का एक वणिक रहता था । उसकी जया नामकी पत्नी थी और दमयंत नाम का एक पुत्र था । पुत्र पुण्यशाली, इन्द्रियों पर काबू रखने वाला और चन्द्र की तरह कला का भंडार था । इन्द्रिय-निग्रह (दमन) में पूर्वभव के संस्कार कारणभूत होंगे, परंतु वर्तमान जीवन का सत्पुरुषार्थ भी एक महान कारण बनता है । और पुरुषार्थ भी ऐसा कि एक बार उद्यान में क्रीडा करते समय वहाँ साधु

महाराजों को शास्त्र-स्वाध्याय और ध्यान में लीन बने देख उसने उन महात्माओं को प्रणाम करके फिर शुद्ध बुद्धि से उनके पास धर्म का उपदेश सुना ।

बगीचे में घुमने-फिरने तो बहुत जाते हैं, परंतु वहाँ साधु मिले तो वंदन करके तत्त्वोपदेश सुनने वाले कितने ? उत्तम जीवों की यह एक विशेषता होती हैं कि सांसारिक प्रवृत्ति में पडे हुए होने के बावजूद वहाँ धर्म पुरुषार्थ का अवसर मिलते ही झपट लेते हैं, संसार-समय में संयोग मिलते ही, धर्म समय का परावर्तन करने वाले बनते हैं ।

दमयंत ने सत्संग से अपने जीवन में सम्यक्त्व सहित विविध व्रतों को स्वीकारा । फिर साधु भगवंतो को यथायोग्य निर्दोष दान देने का लाभ लिया । उसके उपरांत वो तप और संयम में लीन बन कर आयुष्य पूर्ण कर काल करके दूसरे देवलोक में महाऋद्धिमान देव बना ! धर्म का फल मीठा होता है, जगत में ऊँचा सुख धर्म के प्रताप से ही मिलता है । जीवन धर्म से ही सफल बनता है ।

- दमयंत धर्म के प्रभाव से देव बना । फिर जंबूद्वीप के मृगांक नगर में हरिचन्द्र राजा और प्रियंगुलक्ष्मी रानी का सिंहचन्द्र नाम का पुत्र बना । जैन धर्म स्वीकार कर क्रमश: काल करके देव बना ।
- वहाँ से च्यवन कर वो यही वैताढ्य पर्वत पर वारुण नाम के नगर में राजा सुकंठ और उसकी रानी कनकोदरी का पुत्र सिंहवादन बना । राज्य भोगकर श्री विमलनाथ प्रभु के शासन में लक्ष्मीधर नाम के मुनि के पास चारित्र ग्रहण किया । जीवन के सारभूत दुष्कर तप करके छट्ठे लांतक देवलोक में देव बना ।
- वहाँ से च्यवन कर वो तेरी इस सखी की कुक्षी में अवतरीत हुआ । ये गुणों की खान बनेगा, पराक्रमी और विद्याधरों का राजा बनेगा और चरम शरीरी है'

मुनिश्री ने 'गर्भ में कौन अवतरीत हुआ है ?' इसका उल्लेख किया, उसका नाम आगे चलकर हनुमान रखा जायेगा अर्थात् यह सब हनुमान के पूर्वभव हैं, इन्होंने संयम और तप से उच्च स्थिति पायी ।

अब मुनिश्री अंजना के पूर्वभव बताते है :

११ अंजनासुंदरी का पूर्वभव

कनकपुर नगर में पराक्रम में शिरोमणि ऐसा कनकरथ नाम का राजा है । जिसकी कनकोदरी और लक्ष्मीवती नाम की दो रानीयाँ हैं ।

लक्ष्मीवती हमेशा अतिशय श्रावकधर्म का पालन करती है । घरमंदिर में रत्नमय जिनबिंब भी प्रतिष्ठित किया है । रोज उभयकाल (दोनों समय) प्रभु की पूजा-वंदना-स्तवना करती है । कनकोदरी बेचारी को तो ऐसी कुछ सुकृत-साधना तो दूर, पर लक्ष्मीवती की इस प्रवृत्ति पर भी बहुत ही ईर्ष्या होती है । यहाँ तो मात्र शुद्ध प्रभु-भक्ति निमित्त से ही गीत-गान और शोभा-सजावट होती है, पर बेचारी कनकोदरी को दुर्भाग से उल्टा लगता, और इस कारण से वो अधिकाधिक ईर्ष्या में सुलगती रहती है ।

यह जलन इतनी बढती गयी कि एक दिन उस ईर्ष्या की मारी बेचारी ने, भगवान की प्रतिमाजी चुरा कर एक गंदें कचरे से भरी जगह (उकरडे) में फेंक दी । वहाँ अच्छा यह हुआ कि जयश्री नाम के एक साध्वीजी विहार करते आ रहे थे, उन्होंने यह देखा ।

तुरंत कनकोदरी से बोले : 'अरे ! बहन ! यह तुने क्या कर दिया ? तुने तो इन जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा को उकरडे में रखकर तेरी आत्मा को अनेक भवों के दु:ख का पात्र बना दिया ! ऐसे उत्तम भव में यह दुष्कृत्य ?' करुणामूर्ति साध्वीजी के इन शब्दों ने उसके दिल को चीर सा दिया, अचूक असर हुआ ।

कनकोदरी को भारी पश्चात्ताप हुआ कि 'अरे ! यह मैंने कैसा दुष्कृत्य कर दिया !' फिर उसने तुरंत ही प्रतिमाजी को वहाँ से लेकर, साफ करके क्षमा माँगकर, उनके यथास्थान पधरा दिया ।

उसके बाद तो वो इस दुष्कृत्य के दु:ख के कारण बहुत धर्म करने लगी; उसने सम्यक्त्व भी धारण किया और जैन धर्म की भव्य आराधना करके सौधर्म नाम के पहले देवलोक में देवी बनी । वहाँ से च्यवन करके यहाँ महेन्द्रराजा की पुत्री अंजनासुंदरी बनी, तेरी सखी हुई ।

आज यह जो दु:ख मिला है, वो अर्हत् परमात्मा को उकरडे में रखने के दुष्कृत्य का फल है । तुं भी उस कनकोदरी की बहन और उसके अशुभ कृत्य में सहमत बनी थी, इसलिए उसका फल तुं भी इसके साथ भोग रही है । अब उस दुष्कर्म का फल लगभग पुरा हो गया है, इसलिए इस जैनधर्म का स्वीकार करों, क्योंकि यह भवों-भव शुभ फल देने वाला है ।' चारणमुनि ने ज्ञान बल से पूर्वभव जानकर बताया ।

इनमें हनुमानजी के पूर्वभव में संयम और तप मुख्य है । इनके फल भले ही प्रत्यक्ष न दिखे, प्रत्यक्ष में तो कष्ट सहन करने का भले ही दिखे, परंतु तीर्थंकर देव जैसे लोकोत्तम पुरुषों ने इसकी साधना की है और जीवन कर्तव्यरूप भी ये ही बताया है, तो इसे खुशी से अपना लेना चाहिये । तपोमय और संयममय जीवन पर अधिकार स्थापित करने चाहिये ।

'ऐसा नही कि हम क्यों ये ना खाये-पीये ? हमें यह सब हमारे पुण्य से या हमारी मेहनत से मिला हैं, तो हम क्यों नहीं भोगे ?'

ये दलीलें गलत हैं । मेहनत से मिले या भाग्य से, पर मिले हुए को रखने या भोगने में क्या परिणाम आते हैं ? ये विचार करने जैसे हैं । अनंतज्ञानी कहते हैं कि 'भोग के फल बुरे होते हैं, इस कारण से इसका त्याग कर दें ।' व्यवहार में भी त्यागी की प्रशंसा होती है, भोगी की नहीं । दुनियाँ में भोग और परिग्रह के कारण ही अनेक प्रकार के वैर-विरोध, झूठ, अनीति, दीनता, ईर्ष्या आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं । गलत जीवन अधिकार अपनाने के बाद दुर्गुण ना खडे होंगे, तो और होगा भी क्या ?

हनुमानजी के जीव ने पूर्वभव में एक बार समकित, दान और तप-संयम के जीवन पर अधिकार स्थापित किये, तो सफलता ही मिली ! फिर तो कई दोष-दुर्गुणों में से बाहर निकलकर उच्च-उच्चतर गुणमय भव पाये, जिससे थोडे ही भव में हनुमानजी बनकर मुक्ति के जीवन का अधिकार पा लेते है ।

धर्म सिद्ध कब होता है ? :

अंजनासुंदरी के पूर्वभव में मुख्य बात ईर्ष्या की आयी । ईर्ष्या ने उसे इतनी सतायी कि उसने आखिर में अरिहंत प्रभु के बिंब को चोरी करके उकरडे तक पहुँचा दिया ! विचार करने जैसा है कि जिसे सामान्य दोष समझते हैं, वो फल-फुलकर जीव को कैसे अनर्थ में उतार देता हैं ! मार्गानुसारी के गुणों में देखों, या योग की पूर्वसेवा में देखों, या धर्म स्वरूप में देखों, तो जानकारी मिलेगी कि ऐसे ईर्ष्या आदि दोष टालना नीव में जरूरी माने हैं ।

धर्म उसी आत्मा का सिद्ध हो सकता है जिनके आंतरिक परिणाम शुद्ध होते जाते है । चाहे दान का धर्म हो, शील का, तप का, जिनभक्ति का धर्म हो, श्रावक के व्रतों का हो या फिर साधु के व्रतों का, धर्म सिद्ध तो तभी होगा जब आत्मा के शुद्ध परिणाम पर आचरण होगा, या इनका आचरण करने से परिणाम निर्मल बनते जायेंगे और परिणाम की निर्मलता ईर्ष्यादि दुर्गुणों को देशनिकाला दिये बिना नहीं हो सकती ।

मनुष्य की यह भ्रमणा ही तो है कि दुर्गुण उतने ही फले-फुले रहते है और फिर भी मान लेते है कि मैं धर्म करता हुँ ! विशेषता तो यही है कि अंजना का जीव पूर्वभव में कनकोदरी रानी का जीव था, तब वो जैनधर्म को समझती नहीं थी और ईर्ष्या के जाल में फस गयी, जबकि हम तो आज उत्तम देव, गुरु, धर्म का योग मिलने के बाद भी ईर्ष्या, घमंड, स्वार्थीपन, क्रूरता आदि दुर्गुण हम नहीं छोड पाते; यह कैसा ?

विचार तो यह करना चाहिये कि जगत में अरिहंत जैसे श्रेष्ठ देव का आलंबन ले कर तो भव पार कर लेने का लक्ष्य बनाना चाहिये, कर्मो की विडंबना और पराधीनता के अंत के लक्ष्य को पुरा करने के लिए कोशिशें करनी चाहिये । रोटी के दो टुकडें या कपडे की दो जोड कम मिले, कम भुगते; इससे क्या कमी रह जायेगी ? बल्कि महान कमी घमंड, कलह और ईर्ष्यादि दुर्गुणों को रखने में आती है । यह दुर्गुण तो धर्म को जीवन में प्रवेश भी नहीं करने देते... इसलिए यदि दुर्गुण निकल गये, तो फिर धर्म को प्रवेश करने में देर नहीं लगेगी ।

कनकोदरी ने गलत, ना करने योग्य कार्य किया था, पर साध्वीजी ने जैसे ही समझाया कि 'जिनेन्द्र देव की आशातना से घोर नरक की भट्टी में पककर मरना पडता है, इसकी खबर है ना तुझे ? अभी तो तेरे मन को थोडा संतोष हुआ, पर फिर असंख्य काल तक नरक की पीडा भोग पाओगी ?' और उन साध्वीजी के समझाते ही तुरंत पीछे मुडी और उनके पास से धर्म को प्राप्त किया । प्राप्ति भी इस प्रकार कि उसके परिणाम में महासती, महागुणी अंजनासुंदरी बनी ।

जागृति का अर्थ क्या ? :

ईर्ष्या और आशातना का पाप ऐसा कि धर्म द्वारा धोने पर भी कुछ बाकी रह गये; वो यहाँ भुगतने पड रहे हैं, आडे आ रहे हैं । परंतु महर्षि उसको कहते हैं :

'अब चिन्ता ना कर, तेरे कठोर कर्म पुरे होने वाले हैं ।'

वसंततिलका को भी अंजना के साथ दु:ख भुगतने पडे, उसका कारण पूर्व में पाप कार्यो की हुई अनुमोदना ही । आशातना, निंदा, अनादर कोई और करता है, और यदि दूर बैठा कोई दूसरा उसकी अनुमोदना करता है, तो उस पाप की अनुमोदना करने वाले को कर्म यह कहते है : 'जरुर आना, आमंत्रणपत्रिका के बिना ही आना, दोनो को साथ में मार पीटूँगा ।'

जीवन के प्रत्येक दिन में, प्रत्येक क्षण में मानव ना जाने कितनी ही बार दूसरों के पाप की अनुमोदना करता होगा ? है कोई हिसाब ?

- ना लेना, ना देना; बंगला-बगीचा किसी का और खुद अनुमोदना करता है : 'कैसा सुंदर बंगला-बगीचा मिला है ।'
- खुद को भले ही एक कोडी जितना भी ना मिलने वाला हो, फिर भी अनुमोदना करता है : 'सेठ की सारी मीले कितनी बढीयाँ चल रही हैं ।' खुद का कोई लेना-देना नहीं, फिर भी दो आदमी झगडते होंगे तो वहाँ भी अनुमोदना करने लगेगा : 'इसने उसे ठीक से सुना दिया, ठीक परचा बता दिया ।'

बस, जागृति इसी का नाम है कि विचार करने से पहले सोचे कि यह किसी पाप की अनुमोदना का विचार तो नहीं है ना ? इस प्रकार पूर्व विचार करने का अभ्यास करते-करते फिर तो, जहाँ पाप दिखेंगा वहाँ आप रुक जाओंगे, जागृत हो जाओंगे: 'कहीं मैं इसकी अनुमोदना में फँस न जाऊँ !'

वसंततिलका ने अनुमोदना के कारण दु:ख पाया; ऐसा मुनि बोले । फिर मुनि कहते है : 'यहाँ पर अचानक ही अंजना के मामा आयेंगे और वो आपको अपने साथ ले जायेंगे, फिर उसके बाद थोडे ही समयोपरांत पति के साथ मिलाप हो जायेगा । इसलिए अब इस विषय में चिंता ना करें ! चिंता करनी है तो उस अज्ञानता के विषय में करों, जिस अज्ञानता वश जीव रेशम के कीडें की तरह कर्मबंधन से खुद को ही जकडता जाता है, और फिर अंत में दु:ख की भट्टी में सेका जाता है; इस अज्ञानता को दूर करने वाले जैनधर्म का आदर करों ।

तरणतारण जैनधर्म :

'जिनेश्वर देव का बताया और समझाया हुआ धर्म तरणतारण है ! प्रकाशदाता है ! पाप से बचानेवाला है ! अनंतकालों तक यह मिलना दुर्लभ है और प्राप्त होने के बाद यह अनंत संसार का भी निर्मूलन कर सकता है ! तब संसार मिट जाने के बाद तो कोई भी दु:ख, विडंबना, उपेक्षा या पराधीनता का नामोनिशान भी कहाँ रह पायेगा ?' मुनि ने उपदेश देकर दोनों को जैन धर्म में स्थापित किया और फिर वो विद्याधर चक्रवर्ती की तरह आकाश मार्ग से उड कर चले गये ।

१२ पुत्र जन्म

पूर्व साधना का फल :

चरित्रकार आचार्य श्री हेमचंद्रसूरीश्वरजी महाराज अंजनासुंदरी का यही से जैनधर्म में स्थापित होने का लिखते हैं । यह सूचित करता है कि इस जीवन में उसने जैनधर्म पहले नहीं पाया था । इसी कारण पूर्व के दु:खद प्रसंगों में नवकार वगैरह का स्मरण करते नहीं देखने को मिलता । फिर भी जो अद्भुत गुणों का विकास दिखता है, वह पूर्व जीवन में की हुई जैनधर्म की शुद्ध साधना का ही फल है ।

अब यह देखों कि यहाँ की हुई जैनधर्म की शुद्ध साधना भवांतर में कैसी सहायक बनती है ! कदाचित् कोई भूल भाल के योग से अगर पूर्व पापों के उदय के कारण भवांतर में विषम स्थिति खडी हो जाये, तो भी यहाँ की साधना ऐसे गुणों की वसीयत साथ भेजती है कि जिससे आत्मा को नये कर्मबंधन में भी बचाव मिल जाता है ।

गुफा की ओर सिंह का आगमन :

अब यहाँ गुफा में अंजना और उसकी सखी दोनों ही रह गये थें, तभी उन्होंने एक सिंह को चीखते हुए सामने से आते देखा । छलकती आँखें, वज्रसम दाढ, करवत जैसे क्रूर दांत, ज्वाला जैसी केस, लोहे के अंकुश जैसे नाखुन, शिला जैसी छाती; इन सब से भयंकर दिखता सिंह सामने आये तो ? इस पर भी यह कि हाथी को मार कर आया हुआ और खुन से लथपथ (लिपा हुआ) ! अपनी पुँछ को जोश से धरती पर पटकता हुआ और गर्जना से चारों दिशाओं को गुंजा रहा था ।

ऐसे सिंह को आते देख ही दोनों भय से कांपने ही लगेगी ना ? मन हुआ कि 'धरती के अंदर समा जाये' पर धरती भी कौन-सी इतनी दयालु थी कि जगह दे दे ? इसलिए दोनों ही हिरनी की तरह कही भाग जाने को तत्पर बन गई ।

यहाँ विचार करों कि बडी बडी फलांग मारकर कूदते सिंह के सामने भाग-भाग के भी कितना भागोंगे ? कहाँ तक भागोंगे ? और कैसे बचोंगे ? अब तक की आपत्तियों में जो कमी रह गयी थी, वो भी अब पूर्ण हो गयी !

जीवन भी कितना विचित्र है ? संपत्तियों का प्रवाह चला, तो चलता ही रहता है और आपत्तियों की बारिश बरसने लगी, तो बरसती ही रहती है ! तभी तो कही संपत्ति, तो कही आपत्ति; एक के बाद एक । यह विचित्रता विश्वव्यापी है, इसलिए हमारे ऊपर लाद दी गई हो, तो इसमें कोई नयी बात नहीं । सिर्फ उसकी तरफ उदासीन बनकर, उपेक्षा-भाव वाले बनकर सत्कर्तव्यनिष्ठ बनने की जरूरत हैं । इसीसे भविष्य उज्ज्वल बनेगा ।

पुण्य का उदय कसाई के धन जैसा कलंकित ! :

अंजना के सामने से सिंह आ रहा है । यदि हमारे पुण्य में ताकत ना हो, तो कौन बचायेगा ? महल तो गया, पर एकांत में निर्जन गुफा में भी शांति नहीं, भय छा गया । परंतु पुण्य सलामत है, इसलिए ही वहाँ गुफा का अधिपति एक गंधर्व मणिचूल नाम का जो देव था, वह प्रगट हुआ । सिंह के ऊपर अष्टापद शत्रु होता है, उसने अष्टापद नाम के प्राणी का रूप बनाया और सिंह को मार डाला ।

कैसा आश्चर्य है ! सिंह मरे, तो अंजना बचे । अंजना का बचने का पुण्य सलामत, परंतु वो सिंह के विनाश के घोर पाप उदय में आये, तब उदय में आनेवाला । संसार में ऐसे कई सारे पुण्यों के उदय दूसरों के घोर पाप के उदय से कलंकित है ।

कसाई के धन को कैसा मानते हो ? वो भी बिना पुण्य मिलता है क्या ? नहीं, पुण्य हो तब ही मिलता है, फिर भी वो खराब लगता है, तो इसी तरह पापोदय से कलंकित पुण्य के उदय से प्राप्त होने वाले संसार के सुखों में क्यों प्रसन्न होना ???

गंधर्व देव ने अंजनासुंदरी का बचाव करने के बाद अष्टापद प्राणी का रूप बदल कर अपना रूप प्रगट किया, और उस महासति के प्रति इतना आकर्षित हो गया कि उसके सामने वह अपनी प्रिया के साथ अरिहंत प्रभु के गुणगाण गाने लगा । अंजना तो अभी-अभी ही जैनधर्म में स्थिर हुई है, उसमें भी उसका घोर उपद्रव टला और अर्हत् प्रभु के गुणगान सुनने को मिले ! फिर तो ऐसे अहोभाव जगे कि पुछना ही क्या ?

देव भी मात्र गुणगान करके चला नहीं जाता, परंतु अब उसको अकेला भी नहीं छोडता; उसके साथ रहता है । देव सांनिध्य से दोनों सखी सुस्थित बनती है । कहावत है ना कि 'भाग्यशाली को भूत भी पूजे !' सासु और माता-पिता ने नगर से बाहर निकाल दी तो यहाँ देव देखरेख करता है !

अरिहंत का आश्वासन :

अब अंजनासुंदरी थोडी स्वस्थ हुई । उस समय बीसवें श्री मुनिसुव्रत भगवान का धर्मशासन चल रहा था, इसीलिए उसने उनकी मूर्ति स्थापित की और पूजा-भक्ति करने लगी । अरिहंत प्रभु तो अनंत सुख के दाता हैं, तब यदि दु:ख के अवसर पर महा आश्वासन दें, तो उसमें नया क्या हैं ? मात्र आश्वासन लेना आना चाहिये और लेने की तैयारी भी होनी चाहिये । बाकी तो कितने भी भटक लो, सच्चा आश्वासन कहीं नहीं मिलेगा । जीवन में कम से कम एक बात तो नक्की कर लो कि कोई भी दु:ख आये, तब सब से पहले अरिहंत प्रभु के पास से ही आश्वासन लेना है । वैसे तो हम बोलते ही हैं :

'सोते, बैठते, उठते, जो सुमिरे अरिहंत को, दुखियों के दु:ख भागते, सुख होता आनंद

आश करो अरिहंत की, दूजी आश निराश'

परंतु बोलने के बाद भी अवसर आने पर उपयोग कहाँ करते हो ? उपयोग इस प्रकार करना है कि अंदर से दिल पुकारे कि 'अरिहंत प्रभु के प्रभाव से मेरा दु:ख

रहने वाला नहीं ।' '**अरिहंतनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो**' अरिहंत को किया नमस्कार सर्वपापों का नाश करने वाला है । दु:ख आया ? कोई बात नहीं, 'अरिहंत प्रभु मिले हैं तो किस बात की चिंता ? मैं तो अरिहंत की धून जगाऊँ, गुनगान करुं, ध्यान करुं, वो आत्मा का अपूर्व उत्थान कर देंगे' इस प्रकार का आश्वासन होना चाहिये ।

दमयंती ने जंगल में अरिहंत प्रभु का आश्रय, आश्वासन, आधार ले कर भक्ति-पूजा की । यहाँ अंजनासुंदरी ने भी मुनिसुव्रत प्रभु की प्रतिमा स्थापित कर पूजा-भक्ति, ध्यान किया ।

पुत्रजन्म :

यह कब तक चला ? गर्भ के चिन्हप्रगट हुए कि घर से निकाली गई, यहाँ रहते गर्भकाल का समय नव मास पूर्ण हुए, तब तक चला । सिंहनी जैसे सिंह को जन्म देती है, ऐसे उसने उत्तम पुत्र को जन्म दिया । सूतिकर्म वसंततिलका ने किया ।

विधि के खेल है सब ! राजशाही सेवा के योग्य अंजना को आज एक गरीब के घर पर मिलने वाली सुविधा तक नहीं ! पुत्र के पैरों पर वज्र, अंकुश, चक्र वगैरह सुंदर चिन्ह हैं । मुख पर भव्य रूप, कान्ति और लावण्य छलक रहा है ! जैसे कोई देवकुमार समझ लो ! भव्य ललाट, विकस्वर नेत्र, सुंदर गुलाबी मुखाकृति, कमल के नाल जैसे कोमल हाथ-पैर !

अंजनासुंदरी का कल्पांत :

अंजनासुंदरी ऐसे एक पुण्यात्मा का अपने पुत्र के रूप में ऐसे वन-विभाग में जन्म होने से दु:खी हो गई ! दिल इतना भर आया कि रो उठी । बडी जोर-जोर से रोने के कारण ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जंगल को भी रुला रही है । आँख में आँसू के साथ रुदन करती है :

'हे महात्मा पुत्र ! तेरे जन्म पर तो बडा शानदार जन्म महोत्सव होना चाहिये, परंतु इस जंगल में पुण्यहीन मैं तेरा कैसा जन्मोत्सव करुँ ? मैं कैसी अभागिनी कि तेरे जैसा जीव मेरे घर आया, पर मैं कुछ कर भी नहीं सकती ....!'

चारण मुनि अंजना को पुत्र की महत्ता कह गये थे कि 'चरमशरीरी और इस भव में ही मोक्षपद् पाने वाला है ।' ऐसी उत्तमता जानकर प्रत्यक्ष में उसकी ऐसी भव्य आकृति एवं कान्ति देख कर और दूसरी ओर महल में और पुरे नगर में जिसके जन्म की बधाईयाँ और उत्सव चलने योग्य हो; ऐसे महान आत्मा की जंगल में ऐसी स्थिति में जन्मदशा देखकर उसके दिल को ऐसे सुयोग्य आत्मा के योग्य स्वागत-सत्कार नहीं कर पाने का दु:ख इतना ज्यादा हुआ कि वो आँसू रोक नहीं पायी ।

देखने कि बात यहाँ यह है कि उसका यह दु:ख मोह से नहीं, बल्कि गुणज्ञता के साथ ज्यादा संबंधित है । पुत्र को महात्मा के रूप में पहचानती है, महात्मा का योग्य स्वागत न कर पाने के कारण दु:ख का अनुभव कर रही है ।

आत्मा उन्नत है या अधोगति में भटक रहा है ? इस का माप इस पर से समझ आता है कि हृदय की ढलान किस तरफ है ? गुणवान आत्माओं का, महान आत्माओं का योग्य स्वागत ना हो, मूल्यांकन ना हो, खुद उनकी उचित सेवा-शुश्रूषा न कर पाते हो और इस कारण से हृदय दु:खी हो, नि:श्वास अनुभव करता हो, उचित सेवा-सत्कार करने के लिए तरसता हो ! क्योंकि इस संसार में प्रथम तो महात्मा पुरुषों का समागम होना ही महादुर्लभ है ! और यदि खुद अपने आप को गुणों की महत्ता की सच्ची समझ हो, तो ही जहाँ गुण दिखते है, वहाँ हृदय सहज ही आकर्षित हो जाता है । ऐसे जीवन पर सच्चा अधिकार है ।

मामा का आगमन :

अंजना का रुदन कौन जाने कितना चलता ? परंतु इतने में ही वहाँ प्रतिसूर्य नाम का एक विद्याधर आ गया । अंजना को रुदन करती देखकर मधुर शब्दों में पूछता है : 'बहन ! क्यों इतना दु:ख कर रही हो ? दु:ख करने का क्या कारण है ?'

ऐसे स्थान पर, ऐसे प्रसंग पर आश्वासन देने वाला मिले, तो उस से बहुत बल और हिंमत मिलती है ! उत्साह उमटता है ! हर्ष के आँसू बहते है । वसंततिलका की आँखें भी आँसू से भर गई और वो अंजना के विवाह से ले कर यहाँ पुत्रजन्म तक की सारी हकीकत बताती है ।

हम जानते ही है कि वास्तविकता कैसे करुण प्रसंगों से भरी हुई है ! उसका अनुभव तो क्या, सुनने से ही दिल काँप जाता है; ऐसी है हकीकत । यह सब सुनकर विद्याधर का हृदय भी दु:खी हो उठता है और उसकी आँखें आँसू से भीग जाती हैं । उसके मन में हुआ कि 'ओह ! इतनी सारी तकलीफें ! और वो भी मेरी भानजी को !'

वो रोते-रोते कहता है : 'मैं हनुपुर नगर का विद्याधर राजा हुँ । मेरे पिता चित्रभानु और मेरी माता सुंदरीमाला । हे बालिका ! तेरी माता मानसवेगा का मैं भाई हुँ, इसलिए तुं मेरी भानजी है । सचमुच ! तुझे जिंदा देखने के लिए मैं भाग्यशाली हुँ, अब तु स्वस्थ हो जा । निर्भय बन जा ।'

अभी तक अंजना के आँसू सुके नहीं थे, पर जैसे ही पता चला कि यह विद्याधर उसका मामा है वो और ज्यादा रोने लगी । घने जंगल में और इस एकांत गुफा में ऐसी होनी की कल्पना भी कैसे हो ? स्नेही मिला, वो भी सगे मामा जैसा निकट स्वजन; यह तो असंभव सा है ।

मानव समझ पाये, तो उसे लगेगा कि यहाँ भगवान श्री जिनेश्वर देव और इनका धर्म मिला; यह भी असंभव जैसा है । वर्तमान की पाप भरी दुनियाँ में यह मिलने की कल्पना भी कैसे करें ?

इसलिए शास्त्र कहते हैं कि जीव को प्रथम सम्यक्त्व प्रगट होता है, तब अनंत संसार काल में कभी भी नहीं हो, ऐसा अपूर्व आनंद मिलता है ! अपूर्व चमत्कार लगता है ! क्योंकि लोकोत्तर देव-गुरु-धर्म का महादुर्लभ योग मिला है । संसार की ओर से तो यह मिलने की कल्पना कैसे करें ? तब अकल्प्य की प्राप्ति नहीं है और

जब अचानक प्राप्ति हो जाये, तो उसका मूल्यांकन कितना होना चाहिये ? कितनी कद्र होनी चाहिये ? इसके पीछे तन-मन-धन का कितना भोग देकर उपासना करनी चाहिये ? हृदय में अविवेक और निर्विचारता की जडता मिटती है और विवेक विचारों का चैतन्य स्फूरित होता है, तो ही यह मूल्यांकन, कद्र और भोगपूर्वक की उपासनाएँ जाग सकती हैं ।

गुफा में मामा के मिलने से, अंजना का हृदय ज्यादा ही भर आया । महात्मा पुत्र का कोई जन्मोत्सव ना मना पाने के रुदन ओर ज्यादा बढ़ गया ।

मामा प्रतिसूर्य विद्याधर उसे सांत्वना देते हुए कहते हैं :

'भानजी ! अब रोने की कोई जरूरत नहीं । अब दु:ख के दिन बीत गये ।' ऐसे कहकर शांत करने की कोशिश करते है, फिर विद्याधर अपने साथ में आये ज्योतिषज्ञ से पूछते हैं ।

ज्योतिषज्ञ कहते हैं : 'राजन् ! क्या पूछ रहे हो आप ? यह बालक तो पक्का महान राजा बनेगा और इसी भव में मोक्ष जायेगा, क्योंकि शुभ बलवान ग्रहों वाले लग्न में इस पुण्यशाली का जन्म हुआ है । एक तो आज चैत्र वद की अष्टमी जैसी अच्छी तिथी है । सुंदर श्रवण नक्षत्र है, और उस पर रविवार भी है । लग्नकुंडली में मेष का सूर्य उच्च स्थान पर है, मकर राशी का चन्द्र मध्यम स्थान पर है, वृषभ राशी का मंगल मध्यम है, मीन का बुध मध्य स्थान पर है, कर्क का गुरु उच्च स्थान पर, मीन का शुक्र उच्च का और शनि भी मीन का है । मीन लग्न में उदय में ब्रह्मयोग में इसका जन्म होने से सब ही शुभ बन गया है ।'

- जानते हो आप ये किसकी बात है ? हनुमानजी की ।
- जीवन में यह महापराक्रमी होने वाले हैं ।
- सीता के हरण बाद रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी की उलझन के समय में रावण की अशोक वाटिका में पहुँच कर सीताजी को सांत्वना देनेवाले, और

- रावण को सभा के बीच धुत्कारनेवाले होने वाले हैं....
- आखिर में सूर्यास्त के बाद की संध्या और अंधकार को देख कर वैराग्य पाकर चारित्र ग्रहण करके अपने कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष जाने वाले हैं ।

ऐसे पराक्रमी महापुरुष की जन्मदात्री अंजनासुंदरी है ।

विमान से मामा के घर :

अब प्रतिसूर्य विद्याधर अंजनासुंदरी को उसकी सखी और पुत्र के संग विमान में बैठा कर अपने नगर की ओर प्रयाण करते है । विमान तेजगति से आकाशमार्ग से जा रहा है । विमान की छत के ऊपर रत्नों की घुंघरु लटक रही थी, जिसे लेने की इच्छा से बालक अंजना की गोद में से उछला । घुंघरु पकडने के लिए वो उछला तो सही, पर गोद को छोड दी और उपर घुंघरु को पकडे उसके पहले ही; जब वो उछलकर हवा में था, उतनी ही क्षणों में विमान तेजगति से आगे निकल गया । अंजना एकदम कांप उठी, पर कुछ करें इसके पहले ही वो आकाश में रह गया और विमान नीचे से निकल गया । परिणाम ? यह गिरा नीचे एक पर्वत पर ! अंजना के दु:ख का पार नहीं रहा । यहाँ क्या हो सकता है ?

बचाना किसके हाथ में ? कौन से जीवन पर अधिकार पहुँचता है, यह बहुत ही विचारने योग्य है । कई प्रसंग आये, पर इनमें देखने जैसा, विचारने जैसा यह है कि ये प्रसंग किसके हाथ में थे ?

- गुफा में मुनि मिले, क्या अंजना की बहादूरी पर ?
- गंधर्वदेवता ने अंजना को सिंह से बचाया, वो देव सान्निध्य क्या अंजना की मेहनत से हुआ ?
- मामाश्री गुफा में आये, तो क्या महासती के प्रयत्न से ?

नहीं, यह असंभव जैसी घटनाएँ बनी, वह अदृश्य कर्मसत्ता के अधिकार की सूचक हैं ।

इस पर सनातन आत्मतत्त्व सिद्ध होता है । जीव ने इस शुभ कर्मो को पाया, इसके पीछे धर्म का होना सिद्ध होता है ।

तीन महान प्रमाण :

(1) अचिंत्य सारी घटनाएँ पूर्व के शुभ कर्मो बिना नही बनती !

(2) पूर्वकर्म आत्मा के बिना उपार्जित नहीं हो सकते, ना ही उसके बिना यहाँ तक आ सकते है !

(3) यह शुभकर्म का बंध धर्मसाधना बिना नहीं हो सकता ।

जीवन में धर्म का स्थान मुख्य है ? :

तब इतने अचिंत्य की प्राप्ति करवाने वाले धर्म का मूल्य कितना ? जीवन में मुख्य रूप से स्थान हो, तो धर्म का या दूसरे का ? धर्म का स्थान कितना होना चाहिये ? आपने रखा है ना ? आपके जीवन में धर्म का ही मुख्य स्थान है ना ? और वो भी बहुत बडा स्थान ना ? अरिहंत प्रभु का स्मरण तो चलते-फिरते ना ? या कि मात्र सुबह उठते ही ? अरिहंत प्रभु की भक्ति भरपूर प्रमाण में ना ? बात-बात पर त्याग-वृत्ति, व्रत नियम, धर्म वांचन, साधुसेवा, सामायिक, जाप, ध्यान यह सब है ना सही ? नहीं, क्यों ? क्योंकि इसके महामूल्य को समझा ही कब है ? किमत तो सिर्फ धन कमाने, विषयभोग, और परिवार-पालन की लगी है और बाकी सब भूल कर इसी में लगे हुए है । पर यह भी खबर नहीं कि इन सब पर आपका अधिकार नहीं पहुँच सकता । आपकी सोच अनुसार और प्रयत्न के अनुसार कमाई, भोग, कुटुंब पालन हो सकता हैं क्या ? नहीं, जबकि त्याग, व्रत, सामायिक, प्रभु भक्ति आदि तो आपकी सोच और कोशिश के अनुसार हो सकते हैं ।

जीवन पर कही अधिकार है, तो ऐसे धर्मजीवन पर है ।

बेलगाडी के नीचे का कुत्ता :

बालक नीचे गिरने से अंजना तो चीख उठती है ! बालक जैसे ही घुंघरु लेने के लिए

उछलता है, और उछल कर नीचे गिर जाता है; यह होने से रोकना अंजना के बश की बात थी क्या ? क्या अंजना का प्रयत्न बालक का ध्यान रखने का नहीं था ? बालक को गोद् में भी क्या हाथों से पकड कर ही रखना चाहिये था ?

विचार करने जैसा है कि मनुष्य के सब प्रयत्न रक्षा के होने के बावजूद् भी अकस्मात् घटनायें क्यों खडी हो जाती हैं ? और खडी होती हैं, तब कभी बचने के संयोग मिलते हैं और कभी नहीं भी मिल पातें, क्यों ? अपनी होशियारी अनुसार दौडते रहते हो, पर सब अच्छा तो अदृश्य पुण्य से होता है । बैलगाडी के नीचे बैठा कुत्ता जैसे अपना बडप्पन समझता है, वैसे ही आप अपना बडप्पन मानते हो ! अरे ! कुत्ता तो बेचारा सिर्फ मानकर बैठा रहता है, जबकी आप तो मानकर दूसरों के आगे गाना भी शुरू कर देते हो अपनी बढाई के गीत । उस वक्त कोई विचार भी आता है क्या ?

पुण्य का यानि कि मूल में धर्म का ही । उस धर्म की बढाई गाने के बजाय, अपने प्रयत्नों की बढाई गाने की मूर्खता ही अभिमान, धर्म के प्रति कृतघ्नता, उपरांत नये पाप की प्रवृत्ति बढाने की और नये धर्म को नहीं कमाने की भरपूर-भयंकर मूर्खता करवाती हैं ।

परंतु आज तक के अनंत मानव जन्म भी युंही व्यर्थ गँवा दिये, अब यह जन्म तो सुधार लों । इसके लिए चाहे लाख प्रयत्न से पाया हो, पर पाया हुआ सब धर्म के बल से ही; ऐसी समझ पा लो । धर्म की महान कृतज्ञता को अदा करो और नये धर्म करने के प्रयत्न में भी बहुत-बहुत बढोतरी करों ।

बार-बार आपत्ति क्यों ? :

अंजना की गोद् से बालक गिरते ही अंजना रोती हुई चीख पडती हैं : 'हाय ! मामाश्री ! मामा ! मेरा बेटा गया !' बहुत विलाप करने लगती है ! मन रोने लगता है ! अब तक की आपत्तियाँ तो उसके ऊपर आयी थी, पर यह आपत्ति तो अभी-अभी जन्में बालक पर आयी है, यह उसको सबसे बडी आपत्ति लगी ।

अज्ञान रूप से विविध रीत से किये कर्म की कैसी जबरदस्ती कि एक के बाद एक लगातार आपत्ति बरसाते भी कोई संकोच नहीं ! परन्तु कदापि इसे अन्याय मत समझना ! क्योंकि बार-बार की कुप्रवृत्तियों के यह फल है कि बार-बार भिन्न-भिन्न जाति के प्रकार की छोटी-बडी आपत्तियाँ आती रहती हैं ।

- चलते-फिरते काया से आरंभ-परिग्रह-काम-कलह आदि क्रिया होती हो,
- वचनों से ऐसे-ऐसे पापों के उच्चारण की कुप्रवृत्तियाँ चलती हो,
- और इससे भी बडे ज्यादा प्रमाण में तो मानसिक क्रिया, राग, द्वेष वगैरह की, हिंसादि की और आहारादि संज्ञाओ की विचारणा भरपूर चालु रहती हो,
- फिर आपत्तिदायी कर्मों के ढेर आत्मा में क्यों जमा न हो जाये ? यह तो **जीव यदि मन, वचन, काया की कुप्रवृत्तियों का जीवन जीने का अधिकार निभाये, तो कर्म कहते हैं : 'आजा, अब आपत्तियाँ बरसाने का अधिकार में भी पुरा करुँ !'**

मानसिक कुप्रर्वतन (गलत विचार) रोकने के लिए क्या करें ? :

मनुष्य में अभी तक कायिक कुप्रवर्तन कम है, वाचिक भी कम किन्तु मानसिक कुप्रवर्तन इतना ज्यादा रहता है कि उसका हिसाब ही नहीं । इसीलिए इसको रोकना बहुत जरूरी है, और इसके लिए सबसे सरल रास्ता 'मन को सही खुराक दे देना' है । चित्त को जो कोई तत्त्व रुचिकर लगते हो, जो कोई उत्तम पुरुषार्थ के जीवन मन को आकर्षित करते हो, जो कोई स्तवन, सज्झाय, उनके अर्थ या नवकार जाप वगैरह में चित्त चिपक जाता हो, तो मन को वहाँ लगा देना चाहिये । तत्त्वचिंतन आदि का बारबार ऐसा अभ्यास करें, उसमें मन को ऐसा जोड़ दें कि यह मन की आदत सी बन जाये । इससे कितने ही कुविचार, गलत चिंताएँ आदि कई मानसिक कुप्रवर्तन रुक जायेंगे ।

अक्षत बालक :

अंजना को एक के बाद एक, कभी भी ना सोचे हो, ऐसे कष्ट आते हैं, वो सब पाप के योग के कारण; परन्तु साथ ही पुण्योदय के कारण कष्ट को दूर होते समय भी नहीं लगता । यहाँ भी यही हुआ । उसे तो लगा कि उसका पुत्र खत्म हो गया होगा। अचानक उछल कर नीचे गिरा, तो किसके हाथ में ? बचाने वाला पुण्य है, या कोई ओर ? तो जहाँ पापोदय के अधिकार पहुँचते हो, वहाँ सामना कर के क्या होगा ? बंदुक और तोपवालों के आगे दंडेवाला पोलीस क्या करेगा ?

प्रतिसूर्य विद्याधर तुरंत उडके नीचे पहुँचा । बालक को अक्षत-अखंड लाकर अंजना को सौंपता है ।

अंजना चकित होकर पूछती है : 'मामा ! यह क्या ? नीचे गिरने के बाद भी कुछ नहीं हुआ !'

मामा कहते है : 'अंजना ! गिरने की बात क्या कह रही है ? ये तो गिरा था पर्वत पर !'

'हें ? पर्वत पर ! फिर भी कुछ नहीं हुआ ?'

'क्या कुछ नहीं हुआ ? बिलकुल हुआ, पर पर्वत को हुआ ! यह देवांशी पुरुष जो पर्वत पर गिरा, वहाँ इसके गिरने के कारण पर्वत के टुकडे हो गये !'

बल-शक्ति के अधिकार का मूल :

अंजना के आनंद का पार ही नहीं रहा । पुत्र जो सही सलामत मिल गया, उस पर भी ऐसा बलवान और समर्थ कि पत्थर के टुकडे कर डाले ऐसा ! कहाँ से मिला इस बल का अधिकार ? पूर्वभव सुन चुके हो ना ? कहो कि तप और संयम के प्रभाव से । मिले हुए बल का प्रयोग तप और संयम मे करना; उसके फल में महाबल प्राप्त होगा । अभी तो जन्म हुआ है । ऐसा नवजात बालक आकाश में से नीचे पर्वत पर गिरते ही खुद टुकडे-टुकडे हो जाने के बदले पर्वत के टुकडे-

टुकडे कर डाले; ये कितना महाबल ! अखाडे में कसरत करने से ये मिला था क्या ? नहीं, **बाह्य बल और शक्ति के अधिकार मिलते हैं अभ्यंतर तप और संयम के अधिकार आजमाने से ।**

यदि सिर्फ शरीर-पुद्गल का वजन मापों या दूध-घी आदि खाने का बहुत कसरत करने का माप निकालों; इससे कुछ भी होने वाला नहीं । ऐसे वजनवालें या ऐसे खुराक या कसरत करनेवालें दुनियाँ में बहुत मिल जायेंगे, परंतु शक्ति कितनी ? क्यों इतनी सारी शक्ति नहीं दिखती ? बोलो, इसीलिए क्योंकि साथ में आंतरिक बल नहीं मिला है ।

यह भी एक सुबुत है आत्मा का । दिखने में अथवा खुराक लेने में दो लोग समान हो, तो भी एक में बल और ताकात ज्यादा दिखती है; वो आत्मा के वीर्यांतराय के क्षयोपशम पर आधारित है; और उसका आधार पूर्व की हुई तप-संयमादि की साधना पर है ।

साधना में वीर्य का सदुपयोग करों, तो भविष्य में महावीर्य की प्राप्ति होगी और इसमें सदुपयोग न करके पापकार्यों में खर्च किया, तो उल्टे नये वीर्यांतराय कर्म का बंध होने से भविष्य में निर्बलता, निवीर्यता प्राप्त होगी ।

अब आप ही विचार करों कि कैसे जीवन पर अधिकार आजमाने जैसा है ? अच्छा-अच्छा खाने-पीने से वजन बढाने वाले जीवन पर ? या कि तप, संयम, परोपकार, इन्द्रियनिग्रह वगैरह के जीवन पर ?

तप और संयम की तो बलिहारी हैं । मात्र भविष्य में कायिक बल मिलता है; ऐसा नहीं है, पत्थर का चूरा कर देने वाली ताकत मिले, बस इतना ही है; ऐसा नहीं, परन्तु दूसरे कई पुण्योदय देने वाला है । वैसे ही वर्तमान में भी अपूर्व तेज देने वाला है । दृढ मनोबल, महान-इन्द्रिय विजय देनेवाला है । तप-संयम आचरने वाले के विवेक-बर्ताव अलग, बोल-चाल अलग, विचारधारा अलग !

भूलना मत कि ये तप-संयम तो इस मानव जीवन का लाभ/नफा है, जीवन का सत्त्व है, इसी में जीवन की सफलता है ! बाकी, खाया-पीया या भोगा हुआ तो कहीं किसी खाते में जमा होने वाला नहीं । खा गया सो खो गया, जमा तो तप और संयम होंगे ! दान और दया जमा होगी ।

हनुमान नाम कैसे ? :

अंजनासुंदरी को इष्ट निधान के जैसा पुत्र वापस मिल गया; और विमान तो मन की गति के जैसे उड चला और हनुपुर नगर में आ पहुँचा । नगर में बहुत धुमधाम से प्रवेश महोत्सव किया गया । प्रजा में बहुत आनंद उत्साह था । अंजना को महल में लाते समय ऐसा स्वागत-सम्मान किया, जैसे उनके नगर में कुलदेवी आयी हो ! ऐसी पूजा-भक्ति की गयी !

बालक के जन्म के तुरंत बाद हनुपुर में प्रवेश हुआ, इससे मामा ने उसका नाम 'हनुमान' रखा, और पर्वत के टुकडे-टुकडे कर दिये, इससे उसका दूसरा नाम 'श्रीशैल' भी रखा ।

अंजना और हनुमान की महान सेवा-शुश्रूषा हो रही है और हनुमान का महान लालन-पालन हो रहा है । मानसरोवर के कमलवन के राजहँस के जैसा वो खेल रहा है ।

अंजना का संताप :

अंजना को बाकी सब बातों में कुशल हो जाने पर भी दिल में हमेशा संताप रहता कि सास ने लगाया हुआ कलंक कब मिटेगा ? अंदर शल्य की भाँति यह कलंक चूभ रहा है । जीवन में एक भी दोष का सेवन नहीं किया, लेश मात्र भी ना आचरने योग्य आचरण नहीं किया, फिर भी ऐसा भयंकर आरोप, यह महासती के मन को असह्य था ।

देखों जरा; वो वक्त आज के जमाने जैसी नहीं थी। अब तो अंजना को सब आनंद मंगल हो गया है, तो भी ऐसा नहीं होता कि 'भूल जाओ उन लोगो का नाम ! अब क्या जरूर है उनकी ?' अंजना को तो गलत आरोप सिर से कैसे उतरे ? इसी की फिक्र थी।

पवनंजय को सच्चाई का पता चलना ! :

यहाँ पवनजय अंजनासुंदरी के पास से युद्ध में पहुँचा, वरुण के साथ शांतिकरार किये । खर और दूषण को छुडवा कर लाया और रावण को भी खुश कर दिया । वहाँ से रावण के परिवार के साथ लंका की ओर चला और फिर वहाँ से पवनंजय उनसे अनुमति लेकर अपने नगर आया । विनयी है इसलिए आते ही माता-पिता के चरणों में प्रणाम कर, सुख-शांति के समाचार पूछता है और वहाँ से सीधा पहुँचा अंजना रहती थी उस महल में, परन्तु वहाँ क्या देखें ? सुनसान ! निस्तेज नक्षत्र के जैसा अंजना बिना का घर देखा ।

व्याकुल हो गया, वहाँ खडी स्त्री को पूछता है : 'नयन में अमृत रूपी अंजन करने वाली कहाँ है मेरी अंजना ?'

वो कहती है : 'आप प्रवास पर गये, उसके बाद कुछ दिनों बाद आपकी माताश्री केतुमती ने अंजना को गर्भवती जानकर बाहर निकाल दी, वो पापी जीवों ने उस बिचारी को भयभीत हिरणी जैसी उसके पिता के नगर महेन्द्रपुर के पास वन में छोड़ दी हैं ।

यह सुनते ही पवनंजय वहाँ कहाँ रुकने वाला था ? पहले की तरह भय नजर के सामने आया । सीधा निकला वहाँ से ससुर के नगर तरफ भागा, परंतु वहाँ भी अंजना नहीं मिली । तब एक बाई से पूछा : 'यहाँ मेरी प्रिया अंजना आयी थी कि नहीं ?'

वो बोली : 'आयी तो थी अपनी सखी वसंततिलका के साथ, पर दु:शीलता के दोष को जान उसके पिता ने उसे बहार निकाल दिया ।'

वज्र से घायल कर दिया हो वैसे, पवनंजय को इन शब्दों से भारी आघात लगा। पत्नी के महासतीत्व को वो जानता था। 22-22 बरस तक कैसे विरह दु:ख में वो तडपी है, उसकी करुण कथनी उसकी नजर समक्ष थी। 'ऐसी अंजना को ये कौन सी नयी विपत्ति ?' इस बात का दु:ख और बेचैनी थी। अंजना ने तो पहले ही कहा था कि 'जल्दी वापस आना, वरना शायद मुझ पर कलंक चढ जायेगा।' स्वयं के आने में थोडी देर होने से अब ऐसा ही हुआ देखकर उसके दु:ख का पार नहीं रहा।

पवनंजय किसको दोष दे ? :

वो भी दोष किसे दे ? किससे कहे, 'आपने यह क्या कर दिया ?'

- क्या अपनी माताश्री से कहे : 'मेरे आने का इंतजार भी नहीं किया, मुझसे स्पष्टीकरण भी किया नहीं, और यह क्या कर दिया ?'
- या फिर अंजना के माता-पिता से कहे : 'अरे ! मेरी माँ तो सास कहलाती है, वो रोष बता भी दे; पर आप तो उसके माता-पिता होकर भी उसे निकाल कर ये क्या कर दिया ? ऐसी कुलीन शिरोमणी पुत्री को जंगल में धकेल दी ?

किससे कहे ? जिसे भी कहेगा, वो यहि कहेंगे ना कि 'भाई साहब ! हमें खबर नहीं थी कि वस्तुस्थिति इस प्रकार होगी ?

और यह कथन तो स्वयं पर भी लागु पडता है, क्योंकि स्वयं ने भी अंजना के सतीत्व और पतिव्रत को नहीं समझा, इसी कारण 22-22 बरसों तक दगा देने वाला बना। क्या उसे या किसी दूसरे को अंजना पर ऐसा व्यक्तिगत द्वेष नहीं था, परंतु वस्तु स्वरूप की अज्ञानता थी और इसी कारण ही इस प्रकार की स्थिति का निर्माण हुआ।

अज्ञानता की भयंकरता :

अज्ञान की भारी मुसीबत है । अज्ञान के कारण ही जीव गलत कल्पनाओं के पीछे दौड कर कितने ही अकरणीय कार्य कर बैठता है । अज्ञानता वश ही स्वयं के निकट के स्नेहीजन के साथ भी झगड पडता है । सामने वाले का आशय क्या था ? संयोग कैसे थे ? आदि कुछ भी जानने के लिए रुकता नहीं, और ऊपर-ऊपर से भूल भाल देख कर गरम हो जाता है, फिर बेकार में ही चटपटाता है । किसके ऊपर ? जिसके साथ जिंदगी गुजारनी है, जिसके स्नेह और जिसकी सहृदयता के जीवनभर अपेक्षा रहनी ही है; उसके ऊपर तमतमाना ? उनके साथ क्लेश ? इसलिए सामने वाले का दिल तोड दिया, प्रेम भरे हृदय के तार तोड दिये, फिर उसका पुन:संधान किस प्रकार से हो ? यह सब क्यों होता है ? एक अज्ञानता के कारण ही ना ?

समझदारी तो इसी में है कि ऐसा कोई क्लेश, उग्रता या कोई संताप और विकल्प करने से पहले हमें अपना स्वयं का अज्ञान दूर करना चाहिये, यानि सामने उपस्थित संयोग, सामने वाले का आशय, आसपास की परिस्थिति आदि समझे और क्लेश, झगडा करने से दूसरों को कैसे अनर्थ होंगे, व स्वयं के विरुद्ध ही कैसे परिणाम होंगे...? आदि पर विचार अवश्य करें । नहीं तो, इन सब नासमझी में अज्ञानता-वश ऐसे-ऐसे भारी दु:ख, नुकसान भुगतने पडेंगे कि जिंदगी भर चलते ही रहेंगे, कभी खत्म नहीं होंगे ।

अज्ञान; एक बहुत बडा पाप है, इसीलिए तो कहा गया है :

'अज्ञान खलु कष्टं, हिंसादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्य:' यह अज्ञान; वास्तव में हिंसादि सर्व पापों से भी ज्यादा क्लेशमय है, क्लेशदायी है ।

- नागदत्त शेठ को खबर नहीं थी कि 'स्वयं की दुकान में चला आने वाला बकरा, यह स्वयं के पूर्वभव का पिता है और वह पूर्वजन्म के स्मरण से रक्षण हेतु दुकान में चला आया है', इसीलिए उसको डंडा मार कर दुकान

से नीचे उतार कर कसाई के हाथों में जाने दिया और कसाई ने उसे हलाल भी कर डाला ।

- गरीब माँ-बेटे ने एक दूसरे को सामने-सामने गाली दे डाली । बेटे ने कहा कि : 'तुं शूली चढने गई थी क्या ? जो मेरे लिए रोटी करके रख नही सकी ?'

तब माँ बोली : 'तेरे हाथ कट गये थे क्या ? छीका पर पडी रोटी लेकर ना खा पाया ?'

दोनों मा-बेटे को धर्म के योग से अगले भव में अच्छा भव मिलने के बावजूद, इन शब्दोंनुसार ही हुआ । माता का जीव शेठ की पुत्री बनी, चोर ने कंगन के लिए उसके हाथ ही काट दिये । बेटे का जीव श्रेष्ठी पुत्र बना और वही कंगन; चोर ने धर्मशाला में सोते हुए उसके पास रख देने से सिपाहीयोंने उसे आ पकडा और शूली पर चढा दिया । ऐसा क्यों ? ऐसे बोल का नतीजा, निर्दयी फल नजर के सामने नहीं, इसीलिए ना ?

इस जीवन में ऐसे तो दुष्ट वाणी-बर्ताव और विचारो तथा काम-क्रोध-लोभादि कषायों के पीछे उत्पन्न होने वाले नरकादि दुर्गति के भयानक दु:ख नजर में नहीं आते, इसीलिए ही जीव ऐसी दुष्ट वाणी, बर्ताव तथा विचारों और कषायों से भले ही प्रत्यक्ष वैसा लाभ नहीं दिखने पर भी इसे निरंतर भोगता ही जाता है ।

इसीकारण ज्ञानी कहते हैं कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करों, जिससे आत्मा, कर्म, कर्मबंधन के कारण, कर्म के विचित्र बंध, उदय, संक्रमण वगैरह जान लिये जाय, तो दुष्ट प्रवृतियों से बचा जा सकता है और पवित्र जीवन के मार्ग पर आगे बढा जा सकता है । तत्त्वज्ञान जैसा धन इस जगत में ओर दूसरा कोई नहीं है ।

'ज्ञान समो कोई धन नहीं, समता सम नहीं सुख ।'

यह ज्ञान जबरदस्त रक्षण देता है ! पुण्य देता है ! आश्वासन और विवेक देता है !

भगवान श्री जिनेश्वर देव का ज्ञानभरा शासन मिलने के बावजूद भी ज्ञान का खप न करे; यह तो जिनशासन को न पहचानने जैसे है ना ? अस्तु ।

पवनंजय जलकर मरने को तैयार हुआ :

पवनंजय ससुराल में भी अंजना को नहीं देख और वहाँ से भी निकाल दिया जानकर पर्वतों और वनों में ढूँढने निकल पडता है, पर कहीं भी उसका पता नहीं चला । इसलिए वो हिंमत खो बैठता है ।

मित्र प्रहसित को कहता है : 'मित्र ! अब तुं जा मेरे घर और वहाँ जाकर माताजी-पिताजी को इतनी खबर देना कि इस पृथ्वी पर मैं बहुत भटका, बहुत ढूँढ चलायी, मगर कहीं पर भी अंजना का पता नहीं लगा । उस बेचारी का पता लगाने की अभी और कोशिश करुँगा, वन में ढूँढुँगा, परंतु जो वो नहीं मिली, तो फिर मैं उसके बिना नहीं जी सकुँगा । मैं इसलिए अग्निस्नान कर मर जाऊँगा ।'

समझदार और विवेकी दुश्मन भी भला :

यह वही पवनंजय है, जिसे अंजनासुंदरी की तरफ देखना भी गँवारा नहीं था और आज उसके पीछे अग्नि में जलने की बात कर रहा है !

मानव का दिल कब कैसे बदल जाये ? यह कहना बहुत ही मुश्किल है । बेशक ! अनुकूल निमित्त मिले, तो दुष्टता बरत कर अच्छा रहता है और प्रतिकूल या हल्का निमित्त मिले, तो अच्छे से दुष्ट बन जाता है । निमित्त कुछ नहीं करता; यह कहना अज्ञानदशा है ।

पवनंजय का हृदय तरसती-तडपती-बैचेन चकवी को देखने का निमित्त पा के ही परिवर्तित हुआ था ना ? परंतु इतना है कि वो एक बार दुश्मन जैसा था, पर फिर भी भीतर से वो उदार और समझदार था, तभी यह संभव हो सका, इसीलिए तो कहते है ना कि समझदार और विवेकी की तो दुश्मनी भी भली, पर मूर्ख की तो दोस्ती भी बुरी ! कहलाता मित्र, सगा या स्नेही, परंतु क्षुद्र स्वभाव का हो, कदरहीन, कृतघ्न, दुराग्रही हो तो अवसर आने पर अपना रंग दिखाता ही है ।

- कोणिक भले ही श्रेणिक राजा का पुत्र कहलाता था, पर फिर भी क्षुद्र स्वभाव का और कृतघ्न था इसीलिए श्रेणिक को इतना कष्ट झेलना पड़ा ।
- बालचन्द्र जो हेमचन्द्रसूरिजी के शिष्य थे, परन्तु कदर बिना के थे, इसीलिए गुरु के स्वर्गवास के बाद गुरु-भाई रामचन्द्रसूरिजी के पास गुरुवचन भंग करवाने को प्रेरित हुआ । यह तो रामचन्द्रसूरिजी महाराज कृतज्ञ थे, गुरु के अनंत उपकार की कदर करने वाले थे और गुरु के समक्ष स्वयं को अज्ञानी समझते थे, इसीलिए गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य की ।

गुरु ने बालचन्द्र को आचार्य पदवी देने से मना किया था, तो उन्होंने ना ही दी और उस आज्ञा पर कायम रहने के कारण ही वो तपती हुई पाट पर सहर्ष चढ बैठे और अपने प्राणों का बलिदान भी दे दिया ।

परंतु जो बालचन्द्र की तरह गुरु के उपकार को समझने में अशक्त हो, कदरहीन होते, तो वो विचार करते कि गुरु ने तो आज्ञा की है, पर मुझे बालचन्द्र योग्य लगता है; अगर उसे आचार्यपद देना आवश्यक लगता है तो गुरु-आज्ञा का सामना किया होता । इसीलिए ही कहते है कि मूरख मित्र बुरा । रामचन्द्रसूरिजी तो कृतज्ञ और समझदार शिष्य थे, इसलिए बालचन्द्र को ढील नहीं दी और गुरुआज्ञा को प्राण देकर भी निभाई ।

जीवन पर अधिकार दो प्रकार के अपनाये जा सकते है :

(i) एक, गुरु के प्रति बहुमान भाव रखने का, अखंड भक्ति करने का और उनका विनय करके उनकी आज्ञा पर अडीग रहने का ।

(ii) दूसरा, गुरु की अवगणना करने का, गुरु को अपमानित करने का, गुरु के सामने घमंड, उद्धता दिखाने का तथा गुरु आज्ञा को ठोकर मारने का ।

अंतरात्मा में जब अभिमान, खुदगर्जी, स्वार्थांधता, क्षुद्रता आदि दुर्गुण अधिकार जमा कर बैठ जाते है, जब सात्त्विक भाव के बदले तामसीक भाव जोर करते है, तब गुरुद्रोह का जीवन जीते है ।

पवनंजय क्षुद्र नहीं था, उदार और समझदार था, इसीलिए गलतफहमी दूर होते ही आज इस स्थिति तक पहुँचा कि अंजना के पीछे दु:खी होकर प्रहसित से कहता है कि, 'जाकर पिताश्री से कह कि अभी भी अंजना को ढूँढुँगा, मगर उसका पता नहीं लगा तो में अग्निस्नान करूँगा ।'

प्रहसित खबर देता है :

प्रहसित निकला आदित्यपुर नगर की ओर, और वहाँ पहुँच कर राजा प्रह्लाद और केतुमती को पवनंजय का संदेश पहुँचाया । संदेश सुनकर केतुमती कहाँ रुकनेवाली थी ? हृदय पर पत्थर के घाँव जैसे इस समाचार से इतना गहरा आघात लगा कि वहीं की वहीं मूर्छित हो गई ! और जमीन पर गिर गई ! तुरन्त ही उन्हें होश में लाने के उपाय किये गये और जैसे ही वे होश में आयी कि तुरंत कल्पान्त करती हुई कहने लगी :

केतुमती का कल्पांत :

'अरे प्रहसित ! यह तुने क्या किया ? तुं ही कह रहा है कि उसने मरने का निश्चय किया है, तो फिर ऐसी परिस्थिति में तुं अपने मित्र को वन में अकेले क्यों छोड आया ? कितने कठोर दिल का है तुं ! पर तुझे भी क्या दोष दूँ मैं ! पापिनी तो मैं हुँ; जिसने बिना विचार किये ये सब किया । बिचारी अंजना; जो वास्तव में निर्दोष होने पर भी मैंने उसे बाहर निकाल दिया ! उस साध्वी जैसी स्त्री पर गलत दोषारोपण करने का फल मुझे यही पर मिल गया ! अति उग्र पुण्य या पाप के फल यहीं पर ही मिल जाते है !'

इस प्रकार केतुमती कल्पांत करती है । प्रहसित पर गुस्सा करती है : 'मित्र को जंगल में अकेले क्यों छोड़ा !' क्योंकि ऐसी आपातकालीन स्थिति में अकेला पडने वाला अनर्थ कर बैठता है ।

संसार रूपी वन में भी अकेले जीव की स्थिति ऐसी ही है ना ? जीव कई अनर्थ कर बैठता है, इसीलिए इसे सद्गुरु और साधर्मिक के साथ की जरूरत होती है

ताकि वो अनर्थ करने से बच जाये । इन दोनों के अलावा दूजा कौन है, जो ऐसे पापों से बचा सके ? सब शरीर के नुकसान से बचते है, आत्मा को होने वाले महा नुकसान से बचानेवाला कौन है ? वास्तव में बचाने योग्य तो यही है ।

कल्याणमित्र का कार्य यही है, आप दूसरों के साथ संसार के रिश्तों में होने पर भी कल्याणमित्र साधर्मिक का काम कर सकते है । काम यही कि सामने वाली आत्मा कहाँ कहाँ खतरों में घिरती जाती है, उसे देख-देखकर उसके संभव उपाय करके इन खतरों से उसे बचाना चाहिये । इसी प्रकार वो स्वयं भी हमारे साथ साधर्मिक का बर्ताव करें, ऐसा कल्याणमित्र बना देना चाहिये, कि जिससे वह हमें भी अनर्थों से बचा दें ।

प्रहसित के आने से केतुमती को अपनी भूल का अचूक भान होता है । 'महासती जैसी पुत्रवधू पर स्वयं ने यह आरोप लगाया और उसे निकाल दिया । यह बहुत उग्र पाप हुआ और उसका तत्काल फल मिला' - ऐसा समझती है ।

शास्त्र भी कहते हैं कि अति उग्र पुण्य या पाप का फल यहीं मिल जाता है । मनुष्य आपत्ति आने पर बैचेन हो जाता है, शोक और उद्वेग के काले पाप उपरांत कई गलत विचार और पाप प्रवृतियों का आचरण करने लगता है । परन्तु उसे यह खबर नहीं होती कि यह करने के बजाय त्याग, तपस्या, ब्रह्मचर्य, जिनभक्ति आदि अति उग्र पुण्यकार्य में क्यों ना लग जायें, जिससे इनका फल यहीं मिल जाये ! और चित्त की बैचेनी, असमाधि भी चली जाए ।

देखना हाँ ! विषक्रिया रूप बनती धर्मक्रिया नहीं करनी, परंतु समाधि के लिए, असमाधि को टालने के लिए धर्मानुष्ठान तो कर सकते हो । दोनों में बडा भारी फरक है ।

- एक में पौद्गलिक भोग और उनके साधनो की ही मुख्य लंपटता है, दूसरे में चित्त की समाधि - स्वस्थता की मुख्य कामना है ।
- एक में धर्म को बेच देने जैसा है, दूसरे में धर्म का शरण है ।

कर्तव्य यही है : बार-बार धर्म के शरण में जाओं । प्रारंभ में शायद ऐसा लगे कि,

'धर्म करुं, नवकार गिनुं, जिससे आपत्ति टले, समाधि मिले' परंतु फिर आगे बढ़ते-बढ़ते ऐसा लगना चाहिये कि,

'धर्म करता रहुं, नवकार रटता रहुं, क्योंकि धर्म ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है, मात्र धर्म ही कर्तव्य है ।'

ये धर्मक्रिया, नवकारजाप आदि में हमेंशा प्रवृत रहेने से एक दिन इतने प्रकृष्ट भावोल्लास उछलने लगते है कि वो धर्मसाधना को उग्र पुण्य का उपार्जक बनाता है ।

क्या पुण्य और क्या पाप, उग्र बनने का मुख्य आधार अंतर के शुभाशुभ उग्र भावोल्लास ही है । पाप छोटा सा भी हो, परंतु अंतर के भाव यदि उग्र हो, तो भी उग्र पापकर्म का बंध होता है, इसीलिए ही अंतर के भाव, लेश्या, प्रेम वगैरह पर काबू रखना चाहिये, वरना बांधे हुए उग्र पाप शायद इस जीवन में ही फल दिखा दे ।

वर्तमान काल में भी यही उग्र पाप के फल मिलने के कई उदाहरण दिखते है ।

उग्र पाप के दो दृष्टांत :

(i) एक मानव कमरे का दरवाजा बंद करके दिवार के कोने में अग्नि की ज्वाला फिरा रहा था । तभी ऐसा हुआ कि पास के एक श्रावक मित्र अचानक दरवाजा खोलकर अंदर आये और पूछते है :

'यह क्या कर रहे हो ?'

उसने कहा : 'कुछ नहीं, यह खटमल वगैरह बहुत काटते है, इसलिए....'

'अरे ! आपका भला हो यह जीवहिंसा का धंधा ?'

कुछ दिन पश्चात् यह भाई अपने गाँव गये, वहाँ इस श्रावक मित्र से मिलना हुआ । जाकर मिले तो देखा कि उस भाई के मुँह और हाथ जल गये है !

देखकर उन्होंने पूछा : 'यह कैसे हुआ ?'

तो वो रो पडा और कहने लगा : 'भाईसाहब ! यह तो स्टव जलाते समय ज्वाला उठी, उसी से जल गया ।'

श्रावक मित्र को पूर्व की हकीकत याद आ गयी और दिल संवेग से भर गया ।

(ii) दूसरा उदाहरण ऐसा है कि एक भाई को साधु की निंदा, द्वेष वगैरह करने की बडी बुरी आदत थी । ऐसा अवसर आया कि बेटे को लग्न के निमित्त पुरी बिरादरी को खाने का न्योता दिया । भोजन के दिन ही सुबह पता नहीं क्या हुआ कि उस भाई का शरीर और जीभ ही खिंचते हुए से लगने लगे । वो चिल्लाने लगा, सब इक्कट्ठे हुए; उसे कुछ कहना था, पर कहे कैसे ? जीभ अंदर खींच सी गई थी, वो स्पष्ट बोल नहीं पाया, इसलिए 'आ......आ......आ' करने लगता है । विवाह तो वही धरा का धरा रह गया और शरीर तो फौलादी पहलवान जैसा था, फिर भी तीन दिनों की विडंबना, कष्ट भोग कर चले गये । बहुत कुछ कहना था, पर सब मन में ही रह गया ।

यहाँ केतुमती कल्पांत कर रही है । पहले तो प्रहसित को कहा कि, 'तुं दिल का इतना कठोर, जो मित्र को ऐसी दशा में छोड़ कर युँ ही आ गया ! पर फिर कहती है : 'भूल मेरी ही है, इसीलिए मुझे यह फल मिल रहा है । अति उग्र पाप यहीं पर ही फलीभूत होगा; ऐसा ही मेरे साथ हुआ है । देवी समान पुत्रवधू अंजना पर मैंने आरोप लगाया, तो मेरा अपना बेटा ही जल कर मरने को तैयार हो गया है...' इस प्रकार रोती हुई कल्पांत करती है, तब पति प्रह्लाद उसे कहते है :

'अब यह रोने का अवसर नहीं है, वरना बहु और बेटे; दोनों को खो देंगे, इसलिए उनकी खोज चलानी शुरू कर दो ।

सिर्फ रोने से क्या साबित होगा ? :

केतुमती सहज स्वीकार करती है । उपाय करने के बजाय मात्र रोते बैठने वाला ज्यादा नुकसान झेलता है । वस्तुस्थिति बस के बहार की बन जाती है ।

‘हाय, मेरे पाप का उदय ! मुझ से कोई धर्म नहीं होता ! मुझ में कहीं कोई गुण नहीं’ युंही बैठकर रोते रहते हो ना ? या फिर उसके इलाज में लग जाते हो ? नहीं ना ? क्यों ? धर्म और गुण पर सच्ची लगन अभी तक जागृत ही नहीं हुई है, तो परिणाम क्या ?

प्रह्लाद और केतुमती तुरंत ही इलाज करते है । क्योंकि पुत्र के प्रति अथाग प्रेम है । ईलाज करें, तो लाभ की आशा रख सकते हो, वैसे ही शक्य उतना भी धर्म, सुकृत और क्षमादि गुणों की प्रवृत्ति करें, तो ही बाजी सुधरने की आशा है, वरना बाकी तो ‘मुझ से कुछ नहीं होता’ मात्र यह रोना रोते बैठे रहने से परिणाम क्या ?

खोज में :

प्रह्लाद ने अपने विश्वासपात्र विद्याधर राजाओं के पास संदेशकों को भेजा और पवनंजय और अंजनासुंदरी की खोज करने को कहा । खुद भी अपने परिवार और सैन्य को लेकर निकल पडता है ।

प्रह्लाद का खेद और शौक :

केतुमती ने अंजनासुंदरी को बाहर निकाल दी; यह बात शायद उसका पति प्रह्लाद जानता भी नहीं था । अब जब उसे यह जानने को मिला कि ऐसी सुशील महासती पुत्रवधू को बाहर निकाल दी थी और अंजना के पिता ने भी उसका संरक्षण न करके उसको जंगल में धकेल दी थी तो यह जानकर उन्हें कितना ज्यादा दुःख हुआ होगा । उस पर अपने पुत्र के भटकने की स्थिति और अंत में न मिलने पर जल कर मरने की तैयारी जानकर उनके दुःख का तो कोई पार ही नहीं रहा और भयंकर आकुल-व्याकुल हो गये । परंतु अभी तक दोनों में से एक के भी मृत्यु के समाचार नहीं मिले, इसलिए अब तक कुछ आशा की किरण दिखाई पडती है । दूसरों द्वारा खोज करवाने के साथ-साथ खुद स्वयं भी शीघ्रता से खोज में निकल पडे ।

अंजना को खबर :

अब यहाँ पवनंजय और अंजनासुंदरी दोनों की स्थिति विकट बन गई है । पवनंजय को अंजना की कोई खबर नहीं मिल पाती, इसलिए अंत में वह आशा छोड देता है ।

दूसरी तरफ अंजना के मामा के पास प्रह्लाद का संदेशक पहुँचता है और पवनंजय का कही पता नहीं और पवनंजय के जलकर मरने की तैयारी वाली सारी हकीकत बयान की । यह समाचार मिलते ही अंजनासुंदरी का सारा आनंद खत्म हो गया ।

वस्तु कहाँ और खोज कहाँ ? :

पवनंजय ने वन-वन भटककर बहुत खोजा, पर अंजना कही नहीं मिली । कहाँ से मिलेगी ? अंजना की वन में जाने की बात सच्ची ही थी, पर अब इस वक्त तो वो मामा के राजमहेल में जा बसी थी, तो वो जंगल में कहाँ से मिलेगी ?

- सच्चा सुख तो आत्मा की निर्विकार दशा में पडा है, विषयों से अलिप्त रहने में पडा है, उस सुख को विषय-भोग में खोजने जाओंगे, तो कहाँ से प्राप्त होगा ?
- सच्चा धर्म जिनवचन के पालन में बसा है, उसे आपमति में या मिथ्यामार्ग में ढूँढे, तो कहाँ से हाथ लगेगा ?
- सच्ची उन्नति आध्यात्मिक जीवन में ही है, उसे भौतिक प्रवृत्तियों में खोजने से कैसे पा सकेंगे ?
- सच्चा ज्ञान कष-छेद-ताप की परीक्षा में पसार हो चुके जिनागम में भरा हुआ है, इसको अशुद्ध मिथ्याशास्त्रों में या पौद्गलिक शास्त्रों में खोजकर वर्षो के वर्षो निकाले दें तो भी वहाँ कैसे प्राप्त होगा ?

साँप के मुख में अमृत को ढूँढोगे, तो मिलेगा ?

बस,

- विषयों में सुख ढूँढने का प्रयत्न,
- असर्वज्ञ-अज्ञानी के वचन में सच्चा धर्म, सच्चा तत्त्व खोजने का प्रयत्न,
- भौतिक विकास में जीवन की उन्नति करने का प्रयत्न;

ऐसा ही बेकार, फिजुल प्रयत्न है ।

महलों में रहने वाली अंजना को पवनंजय जंगलों में खोजते हुए वन-वन भटक रहा है । गगनगामिनी विद्या है, इसलिए शीघ्रता से और दूर-दूर के वनों में जा सकता है । पर इससे क्या होने वाला है ? उडने की विद्या होने पर भी किसी शहर में देखने का उसे ध्यान भी नहीं आता ।

अज्ञान दशा कितनी भयंकर दशा है कि जीव के पास पुरुषार्थ, प्रयत्न की शक्तियाँ होने के बावजूद सही रास्ते खर्च करने की तरफ उसका ध्यान भी नहीं जाता और आडे-टेढे रास्तों पर वो जोशपूर्वक खर्च करता रहता है ।

- बुद्धि चाहे जितनी भी संसारी शास्त्र सिखने में खर्चो, परन्तु इसमें से आखिरकार स्वयं को क्या लाभ ?
- पैसे, मान-सन्मान के लिए किया हुआ समय-शक्ति का व्यय, और उसमें भी सही तरफ से न मिले, तो टेढी रीत से भी काले कपट, झूठ करके भी पा लेने की फिजुल दौलधूप; इसमें स्वयं को क्या लाभ ?
- पैसे की शक्ति मिली, तो उसे बंगला, पीढियों, परिवार पर लुंटाने का मन होता है, पर मंदिर, धर्मखाता या फिर दूसरें सुकृतों पर खर्च करने का तो ध्यान भी नहीं आता, तो फिर परिणाम रूप उसमें से कौन-सा मक्खन सार निकलेगा ?
- पवनंजय ने स्वयं की शक्ति किसी शहर में खोजने के बदले वन-जंगलों में भटकते-ढूँढने में खर्च कर दी, क्या सार ? क्या लाभ ?

अंजना का पता ही नहीं लगा, आखिर अंत में पवनंजय निराश होकर उस भूतवन में अब जलकर मरने की तैयारी करने लगता है । उसने एक चिता तैयार की । जंगल के सूके लकडे इकट्ठे करके उसमें भडकती अग्नि जलायी । धधकती ज्वालाएँ भडक उठी ! और स्वयं अब चिता के पास में खडा रहकर वनदेवता को संबोधित करके कहता है :

१४ पवनंजय का अग्निस्नान ?

चिता के सामने पवनंजय का इकरार :

'हे वनदेवता ! मैं विद्याधर राजा प्रह्लाद और केतुमती का पुत्र पवनंजय हुँ । मेरी पत्नी अंजनासुंदरी बिलकुल निर्दोष होते हुए भी लग्न के दिन से लेकर मैंने उसे अकेली छोड़ दी थी । बरसों तक उसके सामने भी नहीं देखा । एक बार स्वामी के कार्य से मैं प्रवास पर निकला, पर बीच में ही भाग्ययोग से उसे निर्दोष जानकर में वापस उडकर उसके पास आया, और उसके साथ भोग-क्रीडा की । फिर वापस लौटते मैंने उसे मेरे आगमन की निशानी रूप अपनी अंगुठी दी । मेरे आगमन की खबर मेरे माता-पिता को लगने नही दी, इसकारण अंजना के गर्भवती होने की खबर मिलते ही अंजना पर दोष की शंका की ।'

'पर हे वनदेवों ! इसमें वास्तव में तो मेरा ही दोष था, पर उस बेचारी को बाहर निकाल दिया । जो आज कहाँ है ? यह खोजने पर भी मैं जान नहीं पाया । पहले भी निर्दोष और अभी भी निर्दोष ऐसी अंजना कि इतनी भयंकर दशा हुई, ये मेरे ही अज्ञानता के अपराध के कारण ! धिक्कार है मेरे जैसे मूर्ख पति को ! तो आज मैं यही मेरी काया को इस अग्नि में होम कर रहा हूँ, क्योंकि अब मुझे जीते जी जीवनभर विरहाग्नि में जलना नहीं है । सहा नहीं जाएगा मुझसे ।'

'हे वनदेव ! यदि आप मेरी उस प्रिया को कहीं भी देखों, तो उसे यह कह देना कि तेरे पति ने तेरे वियोग के दु:ख से दु:खी हो अग्नि में प्रवेश किया है ।'

इतना कहकर पवनंजय अब उड कर आकाश में जरा ऊपर गया, भभकती ज्वालाओं वाली चिता में कूदने हेतु ऊपर ऊँचा जाता है ।

पवनंजय के पास अब तक कोई नहीं आया, इसीकारण इस स्थिति तक पहुँच जाता

है । तब अंजना के पास लोग पवनंजय की प्रतिज्ञा के समाचार के साथ पहुँच जाने के कारण देखों; उस की कैसी हालत हो जाती है ।

यह पुरी परिस्थिति बहुत विचारने जैसी है । अंजना के प्रति पवनंजय का विचार सुधर गया, और तो और सास-ससुरजी के विचार भी सुधर गये । लोग पवनंजय को ढूँढने भी निकल गये । सारी परिस्थिति के बावजूद भी प्राप्त क्या होगा, इसका आधार किस पर निर्भर है ?

- पवनंजय जल कर मर जाये, उसके पहले कोई बचानेवाला मिल जाये ;
- अंजना कुछ कर बैठे, उससे पहले पवनंजय और उसका मिलन हो जाये ;
- माता-पिता हताश होकर कुछ कर बैठे, उससे पहले अंजना और पवनंजय की कुशलता के समाचार मिल जाए;

यह सब हो जाये, उस पर अधिकार किसका ? :

हमें यह विचार करना हैं कि हमें कैसे जीवन पर अधिकार मिले हैं, बाह्य या अभ्यंतर ? अर्थात् क्या बाहर की सुख-सुविधाएँ, मालिकी, मान-सम्मान, खान-पान वगैरह की प्राप्ति करना हमारे अधिकार में हैं ? या आंतरिक सम्यग्दर्शनादि गुण, दानादि धर्म प्रवृत्ति, क्षमादि विशेषताएँ पा लेना हमारे अधिकार में हैं ? इसका सही निर्णय यदि हो जाये, तो फिर अवश्य ही जिनाज्ञा के मार्ग पर हमारा प्रस्थान मुमकिन होगा ।

भगवान श्री तीर्थंकरों के बतलाये मार्ग का सार यही है कि मानवजीवन में अवतार लिए उन आत्मा का अहोभाग्य है कि जो समझते हैं कि प्राप्त हुए इस मानवभव में बाह्य जीवन पर स्वयं का अधिकार नहीं है, तो फिर ऐसे जीवन पर अधिकार आजमाने की कोशिश भी व्यर्थ है । इसके बदले सम्यग्दर्शनादि जो अभ्यंतर जीवन पर अपना अधिकार है, उसे पा लेने की कोशिश करनी चाहिये, ऐसा करने वाली आत्मा भवसागर से पार उतर जाती है ।

बाह्य जीवन पर अधिकार इस कारण नहीं है कि कई प्रकार से बाह्य आर्थिक जीवन से संबंधित बुद्धि और होशियारी, न्याय और नीति, कष्ट और परिश्रम करने के बाद भी यह अंतिम सूत्र 'कर्म करे वो होगा' इसी आधार पर परिणाम आता है ।

- कितनी भी मेहनत करने के बाद भी संपत्ति पर हमारा अधिकार आजमाया जा भी नहीं सकता ।
- इसी प्रकार बाह्य-शारीरिक जीवन के कई नियम पालने के बाद भी अंतिम नियम 'कर्म करे वो होगा' इस अनुसार पापकर्मानुसार रोग प्रगट हो जाता है । वहाँ अपने अधिकार आजमाने निष्फल है ।
- बाह्य पारिवारिक जीवन में बहुत लोगों का बहुत करता है-औचित्य, सेवा, परमार्थ सब करता है, फिर भी अंतिम सूत्र 'कर्म करे वो होगा' इस हिसाब से ऐसी विपत्ति, नाकामयाबी, हर तरफ से उपेक्षित होना, अपमानित होना आदि प्राप्त होते हैं । इससे स्पष्ट कह सकते है कि लौकिक जीवन पर अधिकार नहीं पहुँचता ।
- सीता बहुत ही उत्तम जीवन जी रही थी, फिर भी उस पर कलंक लगा, अपमान सहना पडा, पति को पूर्ण विश्वास होने पर भी उसे पति के ही हुकम से वन में जाना पडा । लौकिक अधिकार कहाँ चल पाया ?
- जिसे अचानक लक्ष्मी खोनी पडी, अधिकार कहाँ चल सका ?
- आरोग्य के नियम पालने वाला ही यदि बिमार हो जाये, तो अधिकार कहाँ चला ?

इसीलिए समझदारी इसी में है कि जहाँ पुण्य-पाप का अधिकार है, वहाँ आपके अधिकार की चेष्टा मत करो; और जहाँ अभ्यंतर शुभ विचार और शुभ आचार पर अधिकार पहुँचता है, वहाँ पुरा फायदा उठा लो । यदि इससे कुछ उल्टा करना है, तो ऐसी बात हुई कि जहाँ चार लोग हमारी बात मानते हो, वहाँ तो कुछ बोलना

नहीं, हक जताना नहीं और जहाँ डंडे पडते है, वहीं हक जताने की कोशिश करनी है ! तो यह मूर्खता है या और कुछ ?

इसी तरह ऊपर बताये सुख, सुविधा, धन, मान, खान, पानादि बाहरी चीजों पर जीवन में हक जताने की हमारी कोशिश ही कितनी ही बार क्लेश, संताप रूपी डंडे खाने का अनुभव करवाती है, फिर भी वहाँ हक जताना है ! और जहाँ शुद्ध आचार तथा शुद्ध विचार के अभ्यंतर जीवन पर अधिकार पहुँचता है, कोई रोकने-टोकने वाला नहीं - अत्याचारी के हत्थें चढें हो तो भी हृदय की निर्मलता को अखंड रखने से कोई नहीं रोक सकता; वहाँ यह अधिकार बजाकर हमें निहाल-कृतार्थ नहीं होना; ये कैसी दुर्दशा !

सर्वज्ञ प्रभु के बताये तत्त्वों के चिंतन करने में कोई रोकने वाला नहीं, नवकार मंत्र का रटण-स्मरण जब चाहे तब, जिस प्रसंग में भी करना हो तो क्या कोई रोकेगा कि 'खबरदार ! जो नवकार गिना तो ?' अरे ! जोरदार आपत्तियों के बीच गिर घिर जाओं, तो भी आपको पुरा अधिकार है नवकार मंत्र को रटने का, यह आप कर सकते हो ।

कमठ तापस के लकडे में आधे जले हुए सर्प की काया खतम हो रही थी, पर नवकार के स्मरण को ये तोड नहीं पायी । उस जीव ने अधिकार आजमाया और चित्त को नवकार पर रखा, तो धर्मराजा के सेवक बनकर कर्मसत्ता ने उसे धरणेन्द्र बनाया !

सब कुछ कर्मसत्ता के हाथ में ही है । कर्म मानो कि जीव को युँ कह रहे है : 'तुं मोह का हक बजाने जा, तो तुझे भयंकर दु:ख दुँगा; और धर्म का हक बजाया तो तुझे सुख का महान ईनाम दुँगा ।' जीव कौन से पक्ष की ओर जाता है, इसीपर इनाम और सजा मिलती है ।

पर मोह के अधिकार बहुत सफल होते नहीं । पुण्य न हो और लडने जाओं, तो हाईकोर्ट और सुप्रीमकोर्ट में भी हार हो जाती है । इसके बदले संवेग-वैराग्य पर

हमारा अधिकार है । ये बजाना आ जाये, तो लडाई के स्थान पर ऐसे सुकृत होते रहेंगे कि सामने वाले के हृदय को ही हिला कर रख दें ।

बाहुबलीजी ने क्या किया ? भरत को मारने के लिए मुट्ठी उठाई और उसी हाथ से लोच कर के चारित्र ग्रहण कर लिया, तो बाद में भरत को भी बडा पश्चात्ताप हुआ, और बाहुबलीजी क्रमश: केवलज्ञानी बने, अंतरशुद्धि के अधिकारों की बलिहारी है ।

देवता हीरा-माणेक की राशि खडी कर दें, पर हम उसे तुच्छ मानकर संवेग-वैराग्य को अद्‌भुत कोटि के समझते है, तो वो क्या कर सकते है ? जिसे यह भाव ना हो और कोई एक रुपये की भी अनुकूलता कर दे, तो वहाँ आश्रय अनुभव करने लगता है, बडा उपकार सा मानने लगता है । इस उच्च भव में एक रुपये पर बहुत अहसान मानना चाहिये ?

बाजार में खरीदी करनी है, सारे व्यापारी समान दाम बताते है, एक व्यापारी जरा कुछ रुपयें कम कर दें, तो मन में विचार आयेंगा ना, 'यह सच्चा व्यापारी है ! बाकी सब तो लूटेंरे हैं ।' एक रुपया कम कर देने वाले व्यापारी की प्रशंसा करने में मुँह से फेन निकाल देते है !

अगर इससे विपरीत; वैराग्य पर अधिकार है, तो उनके आगे देवता धन के ढगले भी कर दें, फिर भी दिल को बेकाबु होने नहीं देगा । मानेंगे कि, 'ठीक है, पुण्य का उदय है, तब तक देवताओं को भी देने का मन होता है, पर पुण्य अधिकार उठा दे, तो फिर सग्गा पुत्र भी एक कोडी भी नहीं दिखायेगा ! देना तो बहुत दूर की बात है ।' ऐसे विचारों से धन के प्रति उदासीन रह सकते हैं ।

उच्च कोटि के जीवन में अधिकार लक्ष्मी पर नहीं, काया पर भी नहीं, संवेग-वैराग्य और सद्‌आचार-विचार पर है ।

खंधक मुनि ने तो आंतरिक क्षमा और सहनशीलता पर अधिकार पहुँचा दिया था, उसके बाद तो चाहे चमडी उतारने वाले लोग या उतारने वाले राजा आये, वो इनका क्या बिगाड सकेंगे ? उन्होंने तो सब हिसाब निपटा दिया, बाह्य पदार्थों से तो कह

ही दिया कि ‘तुं तेरा कर, मैं मेरा निभाऊँगा ।’

सेठ की लाडली अचुंकारी भटटा गर्व और गुस्से पर अधिकार बजाती थी, पर अवसर आने पर लूटी गई, बेची गयी, अत्याचारीयों ने तो उस पर सुईयाँ चुभोई, खून निकालकर फिर से तंदुरस्त कर, फिर से रोज सुईयाँ चुभा-चुभा कर खून निकालने का क्रम किया । ये किया तो समझी कि जिस क्रोध पर हक जताती आयी थी, अब तक उस क्रोध के प्रताप से यह सब कटुफल सामने आये । इससे बोध लिया और जो अधिकार दुनियाँ पर मानती थी, वो अब आत्मा पर समझा । क्षमा-समता रखना ये मेरे हाथ की बात है; ऐसा निश्चित कर ऐसी अपूर्व क्षमा रखी कि देवलोक में भी उसके गुणों का गुणगान किया गया ।

देवता परीक्षा करने आया । लक्षपाक तेल की तीन किंमती सीसी फोड दी; पर सब कुछ जल जाये, तो भी क्या ? वो तो मानती थी कि ‘मेरा अधिकार इस पर नहीं है, क्षमा के जीवन पर है । दुनियाँ का सुलगना तो मुझसे शायद रोका ना जा सके, पर मुझे तो मेरी क्षमा को सुलगाना नहीं, बाहरी चीजें फूट पडने का कार्य करती है, मैं मेरी क्षमा रखने का कार्य करुँगी ।

जब तक वो ना आये जीवन में तो चीज फूटने पर हृदय का बोईलर फूटे, तो उससे क्या टूटी चीज वापिस आयेगी ? नहीं । इस पर आपका अधिकार नहीं, अधिकार तो अभ्यंतर जीवन पर है । शुद्ध हृदय और शुभ-भावना, सम्यग्दृष्टि और वैराग्यक्षमादि के गुण पर अधिकार है । पाप के संयोग कितने ही कष्ट, विडंबनाएँ लाते हैं, पर यह सब अनुकूल है; ऐसे बना लेने की कला चाहिये । इन सब में आध्यात्मिकता और अंतरजागृति का दीपक हक पूर्वक जलता रखना चाहिये । इस पर हमारा अधिकार है ।

अंतर जागृति :

एक चित्रकार की पुत्री राजरानी बनी थी । किस प्रकार ? इसके पिता राजसभा में चित्रकारी का कार्य करते थे और यह लडकी स्वयं के पिता को दोपहर का भोजन

देने गई थी । पिता ने उसे बैठने को कहा और खुद दैनिक कार्य करने हेतु गया । उसी वक्त राजा वहाँ आ गया । उसने चित्र में बने मोर पंख को सच्चा समझ कर हाथ लम्बा करके पकडना चाहा, पर हाथ दीवार से टकरा गया ! यह देखकर वो लडकी हस पडी ।

राजा ने पूछा : 'क्यों हँस रही हो ?'

लडकी ने उत्तर दिया : 'मेरे मूर्ख चारपाई के तीन पाये तो मिल गये थे, पर चौथा पाया बाकी था, वो आज मिल गया; इसलिए हँस रही हूँ ।'

'वो तीन पाये कौन से ?' राजा बोला

'देखो ! रास्ते पर आ रहे एक घुडसवार (जो राजा ही था, पर उस लडकी ने चेहरा नहीं देखा था) स्वयं के घोडे को जोर से दौडा रहा था । कोई गरीब मर गया, उसकी भी परवाह नहीं थी, सिर्फ अपना ही स्वार्थ दिखता है, रास्ता तो मानो सिर्फ उन्हीं के लिए है ! ये अक्कल का खाली बोरा नहीं तो ओर क्या है ?'

दूसरा मूर्ख गाँव का राजा; जिसने वृद्ध और जवान सब को समान रूप से राजसभा को चित्ररीत करने का काम सौंपा । हमारे घर में अकेले मेरे पिता कमाने वाले, दूसरों के घर में अनेक ! इसका विचार न करके सब को समान ही चित्र बनाने को कहा । इसमें हमारा कैसे पुरा होगा ?'

तीसरा मूरख मेरा पिता, जिसे मैं रोज गरमा-गरम खाना ला कर देती हुँ, ताकि बिचारे वृद्ध को जल्दी हजम हो जाये, वायु न हो, तब उसे दैनिक कार्य के लिए जाने का सुझता है !'

और, चौथा मूरख तुं, जो यहाँ मोर पंख लेने आया है । यहाँ बंध सभा में कहाँ मोर और कहाँ उसका पंख ?'

लडकी को तो यह भी खबर नहीं कि वो राजा है, पर राजा आकर्षित हो गया, उसकी बुद्धि पर बहुत ही खुश हुआ और उसके पिता से उसे माँग कर विवाह किया ।

चित्रकार की पुत्री रानी बनी । अलग महल मिला । राजा वहाँ आता है । रात्रि में सोने का समय होता है । रानी ने पहले से ही दासी से कह रखा था, उसी प्रकार राजा को नींद लगे उसके पहले दासी रानी से कहती है : 'एकाद कहानी तो सुनाओं ।' रानी ने बात शुरू की ।

एक पेड था । वहाँ एक ऊँट आया । उसको फल खाने का मन हुआ, इसलिए उसने डाली तक पहुंचने की कोशिश की, पर पहुंच नहीं पाया, तो उसे गुस्सा आया और उसने मूत्र विसर्जन कर दिया । उससे पेड के फल भीग गये ।

दासी ने पूछा : 'ऐसा कैसे हो सकता है ? खुद तो डाली तक पहुँच नहीं पा रहा था ?'

रानी ने कहा : 'मुझे नींद आ रही है, अब तुं जा, कल आना ।'

राजा इस बात को सुन रहा था । उसे रस आ गया बात में, पर कहे कैसे कि उत्तर अभी दे दे ? इसीकारण दूसरे दिन वापस यहीं आया ।

दूसरे दिन फिर से दासी ने पूछा, तब रानी ने कहा कि, 'वो पेड खड्डे में था । खड्डे के बाहर से डाली तक मुँह पहुँच नहीं पाया, इसलिए उपर से नीचे पेशाब किया ।'

रानी ने ओर एक बुद्धि कहानी शुरु की, और जब रहस्य आया, वहाँ नींद का बहाना करके जवाब दूसरे दिन पर टाल दिया । ऐसे रोज-रोज रसभरी बातों से राजा वहाँ आता गया और इससे स्नेह भी बढने लगा । दूसरी रानीयाँ उससे ईर्ष्या करने लगी, पर उसकी कोई गलती पकड में नहीं आती । आखिर एक प्रसंग ढूँढ निकालती हैं और राजा से कहती हैं :

'इसके पीछे युं आप क्यों पागल हो गये हो ? वो आप पर जादु वशीकरण करती है ।'

'कैसे ?'

'वो दोपहर में दरवाजे बंद करके अंदर बैठ कर कुछ जाप करती है ।'

राजा को भी देखने का कुतूहल हुआ । एक बार दरवाजे के बाहर से दरार में से देखते है । वहाँ क्या देखा ? एक सुन्दर अभ्यंतर जीवन पर अधिकार बजाना देखा ! राजरानी के पहेरवेश को बाजू में रख कर स्वयं के बाप के घर के फटे-पुराने कपडे पहनकर, वो आइनें में अपने प्रतिबिंब को देखके कहती है :

'हे जीव ! तेरी लायकात तो यह बनने की है, राजरानी बनने की नहीं, इसलिए जरा भी अहंकार मत करना, इस वैभव का कोई भरोसा नहीं, कितने दिन टिकेंगे ? इसलिए ये चले जाये तो अपयश मत समझना और अपनी सौतेली बहनों के लिए दुर्भावना भी मत लाना, उनको मान देना । परिवार के साथ नम्रता से बर्ताव करना....'

राजा तो सुनकर स्तब्ध हो जाता है । यहाँ तक पहुँच कर इस प्रकार करने की कोई जरूरत है ? राजा का बहुत प्रेम और मान है । स्वयं चाहे वो कर सकती है, फिर भी क्या दिखा उसमें ? यही कि बाह्य पर अधिकार नहीं । पुण्य के करम रहते है, वहाँ तक सब ठीक-ठाक चलता है, पर फिर सब नरम पड जाता है ! तब आत्म जागृति, आत्म निंदा और क्षमादि गुणों का धर्म पर अधिकार पहुँचता है । राजा ने बाकी रानियों के कान पकड कर यह सब बताया । यह देख कर सब रानियाँ ने उसे अब महामान देना शुरू कर दिया ।

अच्छा जीवन, दिव्य जीवन अर्थात् गुण और धर्म की साधना, और ये दोनों मनोबल से, मन को तैयार करने से मिलता है ।

प्रश्न : 'मनोबल ना हो तो ?'

उत्तर : मानसशास्त्री कहते है : 'आप मानते हो इससे तो, कम से कम, दस गुणा बल, शक्ति आपके मन में होती हैं । मात्र आपको निर्धारपूर्वक इच्छा शक्ति उपयोग करनी है । इससे अद्भुत मनोबल प्रगट होता है और आत्मा की शक्ति बढती जाती है ।'

मनुष्य का जीवन ज्यादा तो दूसरों के संपर्क में ही बीतता है, वहाँ दूसरों के मन को जीतने के निर्धारपूर्वक योग्य प्रयत्न करने चाहिये, मनुष्य-स्वभाव को समझकर जीवन में बर्ताव करने चाहिये ।

मनुष्य-स्वभाव यह है कि उसे सबसे ज्यादा रस स्वयं के विषय में होता है । सामने वाले की पेट में (आंकडी) मरोडे आती हो और वो उछल कूद रहा हो, तभी यदि स्वयं को थोडी सी भी तकलीफ हो रही हो, पर वो पूछे कि 'आपको दु:ख हो रहा है ? क्या डोक्टर के पास गये थे ? या किस डाक्टर की दवा ली ?' तो इसमें जितना रस मिलता है, उतना यदि सामने वाला अपनी बात लम्बी चौडी विस्तार पूर्वक शुरू कर दे कि 'मुझे ये हुआ है, वो हुआ है, यह दवा ली, यह किया...' तो उसमें रस नहीं आता । इस सूत्र को परख कर जीवन जीने के जिसने नियम अपनाये है, उसे मार्गानुसारी जीवन के कुछ नियम कह सकते है । अभी इसके विवेचन का समय नहीं है । बाकी इन गुणों पर हमारा कितना ज्यादा अधिकार है और उपरांत महान लाभ करने वाले है; इस विचार करने से यह अधिकार निभाने में रस जगेगा ।

पाप का इकरार कितना जरूरी ? :

हम जरा दूर निकल आये, परंतु जीवन पर अधिकार का विषय संक्षिप्त में विचारा ।

बात यह चल रही थी कि पवनंजय भभकती चिता में कूदने की तैयारी करने लगा और वनदेवता का नाम लेकर उनके समक्ष शुद्ध हृदय से, कपटरहित भोलेपन से पाप का इकरार करता है ।

शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार गुरु के सामने पापों का इकरार करके प्रायश्चित्त माँगना चाहिये । बालक की तरह शुद्ध हृदय और कपटरहित भोलेपन से किया हुआ इकरार कितने ही पापों का नाश कर देता है, परंतु यह करने के लिए जैसे पवनंजय को स्वयं के दुष्कृत्यों का भारी खेद हुआ और साथ में दिल में अत्यंत नम्रभाव आ गया, वैसे हमें हमारे छुपाकर सेवन किये हुए पाप के लिए खेद और

गुरु के आगे खोलने का नम्र भाव आ जाये, तो उसका इकरार करना संभव है । 'मैं यह सब कह कर गुरु के आगे तुच्छ सा क्युं बनुं' ऐसा अहं बीच में आता हो, तब तक इकरार करना मुश्किल है ।

तब शुद्ध हृदय के इकरार के बिना तो पाप के शल्य ऐसे गहरे जम जाते है कि जो लक्ष्मणा साध्वीजी की तरह भयंकर दुर्गति में घुमाते है । तो अब अहं-अभिमान किसके आगे रखना है ? लक्ष्मणा साध्वीजी के इतने तप और उत्तम संयम पालन के बावजूद् भी उन्होंने 80 चौविसी यानि की लगभग 800 कोडाकोडी सागरोपम तक संसार में भ्रमण किया ।

इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि गुरु के आगे बच्चों की तरह भोलेपन से, शुद्ध हृदय से पाप की आलोचना का स्वीकार जो नहीं करते, वो आत्मा आराधक के बदले विराधक बन कर दुगर्ति में भटकती हैं ।

अभ्यंतर तप में प्रायश्चित्त को सर्वप्रथम स्थान में रखा है । आलोचना-प्रायश्चित्त से जो शुद्धि करते है, उन्हीं के विनय-वैयावच्च और स्वाध्याय-ध्यान रूप दूजे अभ्यंतर तप फलदायी बनते है ।

साधुत्व में क्या ? या श्रावकपने में क्या ? व्रत जैसे नीव है, वैसे ही दोषों की शुद्धि भी नीव ही है ।

ध्यान रहे कि बडे-बडे त्याग और तप आसान है, भारी दुश्मनों से लडना भी आसान है, परंतु गुरु के सामने पापों का इकरार करना कठिन है । तब यह भी समझने जैसा है कि शुद्धि नहीं करनेवाली आत्मा बार-बार छूपें दुष्कृत्यों में आगे बढती है । बात सही ही है कि जिसके सिर पर भार लगा रखा हुआ हो कि 'फिर से जो मैं दुष्कृत्य का सेवन करुँगा, तो गुरु के आगे कहना पडेगा और संयम जीवन में अतिचार लगेगा; तो फिर इसका सेवन किसलिए करना ?' ऐसा भार रखा हो, तो यह पाप बढाने से बच सकते है । बाकी जिसे गुरु के सामने कुछ करने-कहने

की जरूरत ही नहीं हो, जिसे कपटरहित इजहार ही नहीं करना, वो कैसे बच पायेगा ?

योग्य आत्माएँ तो, 'स्त्री पर रागवाली दृष्टि पडी या पुरुष को भी राग भरा स्पर्श किया' उस की भी आलोचना लेकर प्रायश्चित्त करते है । शास्त्रों में भी कहा गया है कि शब्द, रूप, स्पर्श....वगैरह में राग भरा आकर्षण यह ब्रह्मचर्य व्रत में दोष रूप है । आलोचना; यह महान साधना है ।

सज्जन को अन्याय करने का खेद :

पवनंजय अभी जो इजहार कर रहा है उसका मुख्य कारण तो अंजना के प्रति उसके राग के बदले ऐसी गुणभंडार महासती पर स्वयं का किया अन्याय का महाखेद काम कर रहा था ।

इसलिए ही इस खेद से कहा जा सकता है कि अंजनासुंदरी पर जो बीता, उसमें पवनंजय की अधमता कारण नहीं है, पर अंजना के पूर्वभव के कर्म कारण है । क्योंकि पवनंजय यदि अधम होता तो उसमें ऐसा और इतना बदलाव कैसे और कहाँ से होता ? पवनंजय उत्तम था और इसीलिए यहाँ स्वयं से सती पर हुए अन्याय के बदले भारी खेद अनुभव कर रहा था ।

सज्जनों के दिल इतने कोमल होते है कि वो दूसरों के प्रति स्वयं से हुए अन्याय के कारण द्रवित हो जाते है, खिन्नता का अनुभव करते है । इनकी यही खुबी होती है कि वो अन्याय में जितने भी लोग जिम्मेदार होते हैं, उनको दोष नहीं देकर अपना स्वयं का दोष ही खास तौर पर देखते हैं । पवनंजय यहाँ स्वयं की माता और अपने ससुरजी को दोष नहीं देते कि 'उन्होंने सब बिगाड दिया, गलत किया, कैसे मूर्ख मानव है ।....' आदि रोना भी नहीं रोता ।

खतरनाक त्रिपुटी :

अंजना के वियोग के बाद उसे अब जीना भी भारी लग रहा था । दुनियाँ में ऐसे भी मानव होते हैं कि जिनके मन ऐसे होते हैं कि पत्नी मरी अर्थात् चूहीयाँ मरी । पत्नी

को केवल भोग का साधन और एक गुलाम ही समझते हैं, उससे दूसरी क्या आशा रख सकते हैं ? भोग-लंपटता, स्वार्थांधता और घमंड तो मानव जैसे उच्च प्राणी के पास भी पशु के कार्य करवाते हैं, कई अधम कृत्यों का सेवन करवाते हैं । मानवता को भूला देती है यही त्रिपुटी ।

न्यायसंपन्न जीवन, परोपकारी जीवन, सौम्यतावाला जीवन, दूसरों की निंदा-तिरस्कार बिना का जीवन - ये जीवन के अधिकार कौन छीन सकता है ? वो ही भोग-लंपटता, स्वार्थांधता और गुमान ।

यह खतरनाक त्रिपुटी (तीनों का समूह) तो जगत पर काली छाया-सी फैला देता है । आज के भयंकर अध:पतन इसी के कारण है । जीवन के अनंत काल का भवभ्रमण इसी पर निर्भर है, इसको जब तक शिथिल नहीं करेंगे, तब तक प्रगति, उन्नति या सद्गति की आशा व्यर्थ है ।

पवनंजय ऐसा भोगलंपट भी नहीं कि 'चलों; एक अंजना मरी तो दूजी कई अंजना मिल जायेगी ।' अन्यथा वो तो इतना पराक्रमी, वैभवी, यशस्वी है कि क्या उसे दूसरी पत्नी नहीं मिलती ? मिल जाती, महारूपवती विद्याधर राजकन्यायें ही मिलती ! परंतु अंजनासुंदरी जैसी गुणों की भंडार और महासती की कमी ने उसका जीना मुश्किल कर दिया है, इसलिए चिता में जलकर मरने को तैयार हुआ है ।

एक ओर इसकी यह स्थिति है, जबकि दूसरी ओर अंजना की स्थिति देखों...

अंजनासुंदरी के पास लोग जाते हैं :

पवनंजय और अंजना दोनों को खोजने प्रह्लाद ने चारों तरफ विद्याधर पुरुष भेजे, कुछ विद्याधर ढूँढते-ढूँढते हनुपुर नगर में आये । वहाँ राजा प्रतिसूर्य और अंजना को देख चकित रह गये । अंजना का पता चल गया, इसलिए हर्षित हो गये, पर पवनंजय के मिले समाचार पर उद्वेग उत्पन्न हुआ । अब वो ही यहाँ इसकी विगत देते कहते है :

'पवनंजय युद्ध करके घर लौटे, आते ही अंजना की हकीकत जानकर निकल गये और उसने अपने मित्र प्रहसित के साथ घर पर समाचार भिजवा दिये कि 'मैंने अंजनासुंदरी की खोज की, पर पता लगा नहीं, फिर भी और ढूँढूँगा और फिर भी ना मिली, तो उसके विरह को सहने में अशक्त मैं अग्निस्नान करुँगा' ऐसी प्रतिज्ञा कहलवा दी । उनके पिता ने उनकी और अंजना की खोज करने राजाओं के पास लोगों को भेजा, इस कारण हम भी यहाँ आये हैं ।'

राग ही दु:ख का मूल है :

बताओं; यह सुनकर अंजनासुंदरी कहाँ रुकने वाली थी ? महासती, महापतिव्रता ऐसी उसके लिए तो पति का यह समाचार सुनना भी महाकठिन था । वो विषपान की तरह ही इन वचनों का पान करते ही तुरंत उसके मुख से 'हाय ! मर गयी मैं !' यह चीख निकल पडी और वह मूर्छित हो तुरंत जमीन पर गिर पडी ।

जगत में राग क्या काम करता है ! पवनंजय पर अथाग राग है, इसलिए ऐसी स्थिति हुई । नहीं तो दुनियाँ में दूसरे ऐसे कई प्रसंग बनते है, फिर भी कहाँ खेद होता है ?

इसीलिए वीतराग भगवान का ये उपदेश है कि राग ही दु:ख का मूल है । **'पापाद् दु:खम्'** कहते है यह गलत नहीं, परंतु पाप का मूल कारण राग ही होता है । जितना-जितना राग कम करेंगे, उतना उतना ही प्रत्यक्ष में भी दु:ख कम होगा । अंजना मूर्छित हो गयी, तुरंत ही चंदन घोटकर उस पर शीतल पानी का छिडकाव किया । पंखी से हवा दी गई । थोडी देर में उसने आँखें खोली, पर दिल में हुए अत्यंत दु:ख के भार के कारण, वो उठकर कल्पांत करती है ! कहती है :

१५

महासती का कल्पांत

'अरे ! यह कैसी घटना कि पत्नी के पीछे पति मरे ! हाँ, पति की मृत्यु के पीछे उनके भयंकर शोक के कारण पतिव्रता नारीयाँ तो अग्नि में जलकर मरती हैं, क्योंकि उसे तो जीवनभर के लिए एक ही पति, और पति के बिना का जीवन उसे महादु:खकारी लगता हैं । परंतु जिसकी हजार स्त्रीयाँ होती हैं; ऐसे पति को किसी एक पत्नी के वियोग का शोक क्यों ? और शोक हो तो भी क्षणिक ही होगा, फिर उसके पीछे जल मरने की बात कहाँ से ? इसलिए यह तो उल्टा हुआ कि मेरे वियोग में, हे नाथ ! आप जलकर मरने को तैयार हुए हो !'

'धिक्कार तो मुझे है कि आपके वियोग में एक स्त्री होते हुए भी अभी जीवित ही हुँ ।'

'वास्तव में नाथ ! महासत्त्वशाली आप और अल्प सत्त्वशाली मैं; दोनों के बीच का महान अंतर मैंने अब जाना ! ओह ! रत्न तो रत्न ही है और काँच तो काँच ही ! कैसी धिट्ठ हृदय की हुँ मैं !'

'अरेरे नाथ ! मेरे जैसी दीन, कंगाल की खातिर आप जल मरोंगे ? मेरे सिर पर यह कैसे दु:ख के पहाड टूट पडे है ! इसमें सास-ससुर का भी दोष नहीं और माता-पिता का भी नहीं; दोष तो मेरे कर्मो का ही है ।'

उत्कर्ष-अपकर्ष का इनाम :

पवनंजय के इजहार के जैसा अंजना का यह कल्पांत भी कितना ज्यादा गुणग्राही है ! कितना ही परगुणप्रेमी और स्वदोषदर्शी है ! शास्त्रकार इस भाव को उच्चगोत्र नाम के पुण्यबंध का कारण कहते हैं, ये आगे चलकर उच्चकुल में जन्म दिलवाता है ।

स्वयं का अपकर्ष यानि कि स्वयं का हल्का और पर का उत्कर्ष यानि कि दूसरों का

ऊँचा गाये तो उच्चगोत्र मिलता है, वरना इसका उल्टा; निज के उत्कर्ष और पर के अपकर्ष गाते रहोंगे तो नीचगोत्र से ही चीपक जायेगा !

तो निंदा यानि क्या ? पर के अपकर्ष गाना ही ना ? दूसरों के लिए तुच्छ, हल्का बोलना ही ना ? इससे इनाम क्या मिलेगा ? नीचगोत्र नाम के पापकर्म की कमाई या दूसरा कुछ ? पर सिर्फ इतना ही नहीं, परंतु शास्त्र जब निंदा अर्थात् कि परापकर्ष को नीचगोत्र का कारण कहता है, तब 'यह हृदय के अशुभ भाव है' यह बात तो पक्की ही हो जाती है और अशुभ भाव यह दूसरे कई शुभ भाव के बदले अशुभ कर्मों के भी उपार्जक है ।

उदा. : यश-सौभाग्य-आदेयवचन-शुभवर्णादि वगैरह का उपार्जन नहीं, पर अपयश-दौर्भाग्य-अनादेयवचन-अशुभ वर्ण रस, गंध, स्पर्श आदि पाप कर्म; वैसे ही शातावेदनीय पुण्य नहीं, पर अशातावेदनीय पाप; तदुपरांत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय कर्मों में चिकट बंधन तो ब्याज में !

जहाँ कुछ लेना-देना ही नहीं ऐसी निंदा, ऐसे पर के अपकर्ष, ऐसा दूसरों के लिए तुच्छ सोचना और स्वयं का उत्कर्ष अर्थात् ऊँची-ऊँची हाँकने, विचारने से क्या सार निकलेगा ? यही ना कि नीच गोत्रादि अनेकानेक पापकर्म के कचरे आत्मघर में डाल दिये !!

निंदा और नीचगोत्र की धूर्तता और उसके जुल्म :

इसमें एक नीचगोत्र कर्म भी इतना ज्यादा दगाबाज है कि इससे हल्के कुल में, हल्के भव में जन्म न मिले, तब तक शांति समझ लो, फिर तो वहाँ ढेड-भंगी, चंडाल या तिर्यंच के भव में भी कुछ अच्छा तो सुझने वाला नहीं और फिर उस कुल या भव में सुलभ हो ऐसा हल्का जीवन जीया करों !

बाघ-बिल्ली-गिलहरी आदि के भव ही ऐसे है; इसलिए वहाँ जीव को 'मार डालुँ, मार डालुँ' ऐसी लेश्या रहती है ना ? हल्के अवतार में हिंसा, झूठ, मांसाहार, महानिंदा, कलह-झगडे आदि कई महाहल्के कार्य का ही जीवन मिलेगा । इसके

परिणाम से नरकादि दुर्गतियों का ही दीर्धकालीन संसार चलेगा या और कुछ ? कहो तो सही नीचगोत्र की ये कैसी जोहुकमी ? वैसे ही नीचगोत्र तक ले जाने वाले परापकर्ष, निंदा, स्वोत्कर्ष, अभिमान वगैरह की भी कितनी जोहुकमी ?

शासन पानेवालों की दशा :

मनुष्य को पेट भर कर निंदा करते रस आता है । अपने आप की बढाई करते, गाते-गाते वो कभी नहीं थकते । बात-बात पर दूसरों का नीचा दिखाना और उन्हें कम समझना और स्वयं को महान समझकर ऊँची-ऊँची हाँकना ! उस वक्त उन भयंकर परिणाम की हारमाला का कोई विचार आता है क्या ? यह विचार आ जाये, तो ऐसी पशुओं सी प्रवृत्ति करेंगे ही क्युं ?

जिसके प्रत्यक्ष में खास लाभ भी नहीं और जिसके कारण परोक्ष में दुर्गति में फेंके जायेंगे, ऐसे बोल-चाल या विचार भी जैनशासन पाये हुए श्रावक कैसे कर सकते हैं ? शासन पाना अर्थात् कर्म, कर्म बंधन के कारण और विपाक (फल)-परिणाम जिनको सुनने-समझने और स्वीकारने, तो.... उसे तो अब दूसरों का तुच्छ बोलना या स्वयं की वाह-वाही करते सो विचार आयेंगे । अब तो उसे जहाँ भी मौका मिलेगा वहाँ ढूँढ-ढूँढ कर दूसरों के गुण और स्वयं के अवगुण ही विचारने और बोलने की सावधानी रहेगी, तत्परता रहेगी । वीतराग परमात्मा का शासन पा लेने वालों की यही दशा होती है । सामने वालों के सो अवगुण नजरअंदाज करके एक गुण, एक अच्छी बात भी ढूँढ कर उसी पर दृष्टि स्थिर रखते हैं ।

कृष्ण महाराज ने गंदे और दुर्गंध वाले कुत्ती के कलेवर में भी सफेद दांत की पंक्ति ढूँढ ली और उसी पर दृष्टि स्थिर रखकर बोले कि, 'कैसी मोतीयों के दानों जैसे सफेद दाँतों की पंक्ति है !' ऐसा करने से उनका कहाँ हल्का लगा ? बल्कि उल्टे बाकी सब को आश्चर्य हुआ ! और स्वयं का हृदय सामने वालों का हल्का विचारते हल्का बनता, क्षुद्र बनता, काला सोचने से काला बनता; यह सबसे बच गये !

लिख के रख लो : मन एक दिवार है, उसके ऊपर परापकर्ष, यानि दूसरों की हल्काई के विचार रूपी काजल का रंग लगाओंगे तो कालाश चढेगी और दूसरों के गुणगान-गुणानुराग रूपी सफेद रंग लगाओंगे तो सफेदी चढेगी । हृदय हल्का विचार कर क्षुद्र और तामसी बनता है, उच्च और उत्तम विचार कर उच्च और सात्त्विक बनता है । दूसरों के हल्केपन का विचार; यह निम्न विचार है, स्वयं की बढाई का विचार; यह भी निम्न विचार है । दूसरों की बढाई का विचार; यह उत्तम और उच्च विचार है, स्वयं के लिए हल्के विचार; यह भी उच्च विचार ही है । जैसे विचार, वैसे बोल । यह बोल भी उसी प्रकार हल्के या उच्च है । जीवन को उजाले से भरपूर बनाना हो, प्रकाशमय करना हो, तो उत्तम विचार और ऊँचे उद्गार रखों, नहीं तो हल्की विचारधारा और हल्के वाणी-विलास से जीवन काला, अंधकारमय बन जायेगा ।

बुरा भूतकाल भुल जाये तो :

अंजनासुंदरी जो कल्पांत करती है, इसमें पति के उत्कर्ष अर्थात् बढाई का और स्वयं के अपकर्ष का अर्थात् हल्काई का विचार छलोछल, लबालब भरा है । देखना हाँ ! आप सब, पति ने विवाह के तुरंत बाद 22-22 वर्षो तक तिरस्कार करने में कोई कमी नहीं रखी, परंतु उसके मन को वो सब कुछ कही भी स्पर्श भी नहीं हुआ तो उसकी निंदा करने की बात ही कहाँ ? दुष्ट और बुरे भूतकाल को भूले बिना वर्तमान अच्छा नहीं दिखेगा । वो तो पति की यह बडाई देखती है कि 'आश्चर्य है कि जहाँ पति के पीछे शोकवश पत्नी तो जलकर मरती है, पर यहाँ तो पत्नी के पीछे शोकवश जलकर मरने की तैयारी कर रहा है, उस पर भी वो पति जिसे हजारों पत्नीयाँ मिल सकती है ।'

जिंदा जल कर मरना कोई आसान नहीं है । स्वयं हाम-दाम-ठाम से पूरा है । जिस पत्नी के वियोग में यह कर रहा है, उसको निकालने की गलती तो माता ने की थी, फिर भी जो भी हो, पर उसने स्वयं बहुत खोज की, पर पत्नी ना मिली, तो अब जीवन ही त्याग देने के निर्णय पर आ गया ।

क्या देखना आता है ? :

अंजना के मन को पति की यह बडाई ही नजर आती है । बडाई ढूँढनी हो तो नहीं मिलती ?

'वैभवी जीवन के हजार रूपसुंदरीयों के साथ के रंगराग और जगत के जय, विजय और सत्ता के भोग आदि छोड कर ये प्राणों का बलिदान कर रहा है ।' अगर विशेषता देखनी हो तो ऐसे दिखाई देती है, इसके बजाय;

- 'हाय ! इसने मुझे 22-22 वर्षो तक तिरस्कार किया और अब जलकर मरने चला है । बडे विद्याधर राजा के घर पर जन्मी फिर भी मेरे संसार सुख को सुलगा कर रख दिया ।' ऐसे विचार करने हो, तो वो भी किये जा सकते हैं ।

पर नहीं, अंजना को तो पति की विशेषता ही देखनी है । वो अब जब हजार स्त्रियों के भोग को भी खोने को तैयार है, तो स्वयं को एक पति का भोग न मिले तो क्या ?

आश्वासन की चाबी :

निरासा के बदले आश्वासन लेना हो तो मिलता है, परंतु वो तो सीधा-सही हिसाब-अंदाज लगा सको तो ! जीवन में कितने ही सुख-दु:ख तो आडे-सीधे हिसाब पर निर्भर है ! आप से भी ज्यादा दु:ख किसी दूसरे को है, यह देखने के लिए दृष्टि खुली रखो, तो आपके दु:खों में कमी महसूस होगी । जबकि दूसरों को बहुत सुख है, बहुत सुख है; यही देखोंगे तो सुखी रहते हुए भी आपको दु:ख होगा । फिर कभी ईर्ष्या होगी, तो कभी निराशा उठेगी और इसके संताप से (दु:ख) शरीर से ही आधे हो जाओंगे, वैसी ही दुर्ध्यान वगैरह कई दोष-दुष्कृत्यों के पाप का भार भी बढ जायेगा ।

अंजना को तो दुनियाँ की दूसरी सुखी औरतो की तरफ देखना ही नहीं है कि,

'हाय ! इन सब को इतना सुख और मुझे यह विडंबणा, यह तकलिफ ?' वैसे ही स्वयं के भोग सुख लूटते जाते देखकर भी उसे नजरअंदाज कर उसकी तरफ दृष्टि डालनी ही नहीं, इसीलिए वो कोई अघटीत उद्गार निकालती ही नहीं । यह तो पति की महान विशेषता ही देख रही थी, इसलिए वो बोलती है कि, 'नाथ ! यह कैसा आश्चर्य कि आप मेरे एक की खातिर जल मरने को तैयार हुए हो ।'

पति की इतनी विशेषता ही नहीं, पर स्वयं में रही हुई हीनता यानि अपकर्ष की दृष्टि से भी उसमें रही हुई अधिकता, उत्कर्ष वो प्रगट करती है और कहती है कि 'जब पति के वियोग में अभी तक जिंदा रहने की धृष्टता वो कर रही है, तब पति उसके वियोग में प्राण-त्याग करने के लिए तैयार हो गया ।' इसी कारण 22-22 वर्ष पति को दोष दिये बिना एक समान सहन करने वाली यह महासती स्वयं को अल्प सत्त्ववाली और पति को महासत्त्वशाली के तौर पे व्यक्त कर रही है ।

आशा में खो जाने से सत्त्वहीनता :

हमें विचार आयेगा कि इसमें अल्पसत्त्व और महासत्त्व क्या है ? पर अंजना की यह एक अंतरनिरीक्षण की वस्तु समझने जैसी है ।

वर्षो तक एक भी दिन पवनंजय अंजना पर एक दृष्टि डालता नहीं था, तो भी अंजना समझती है कि 'मुझे आशा रहती थी कि, कल सामने देखेंगे, परसो देखेंगे और इसी आशा में जीवन जीती रही ।' अब दूसरी ओर देखती है कि पवनंजय के स्वयं खोजने पर भी मैं नहीं मिलती, तो भी वह इस आशा के भरोसे नहीं कि 'अभी अंजना के मौत के समाचार कहाँ मिले है ? इसलिए अभी भी उसके मिलन की आशा है ।' उसने तो आशा के भरोसे रहना छोड ही दिया और यह करके भी उसको दूसरे तरीके से सुख-वैभव भोगने की चाह नहीं, पर प्राण त्यागने की तैयारी !

इस प्रकार आशा के भरोसे के पीछे अल्पसत्त्व और आशा की गुलामी को छोड देने के पीछे महासत्त्व; अंजना यही देख रही है ।

बात एकदम सही है कि आशा ही मारती है मानव को ! और सत्त्वहीन भी बनाती है ।

- झगडालु और गर्व दिखा के अपमानित करने वाली पत्नी के पास से भी भविष्य में सुख मिलने की आशा में पति सत्त्वहीन बनकर उसकी गुलामी करता जाता है ना ? इस आशा में बंधा ना रहें, तो स्वयं करने योग्य, कहने योग्य सत्त्व क्या वो नहीं पा सकेगा ?
- नौकर को रोज धमकाने वाले सेठ के पास से ही आजीविका मिलेगी, दूसरी कहीं से नहीं, इसी आशा के चलते नौकर, हीन सत्त्व बनकर बेकार में सेठ से दबता है और सहता है ना ? इस आशा को छोड दे, तो भाग्य पर विश्वास रखकर योग्य शब्दों में प्रतिकार करने का सत्त्व क्या नहीं बता सकता ?

सत्त्व नहीं है, इसलिए मानवता का दिवाला :

इससे भी आगे देंखो कि मान-पान और वैभव-विलास के सुख की आशा में फँस कर मानव का सत्त्व इस हद तक क्षीण हो जाता है कि मानवता के गुण भी वो खो देता है, यह न्यायसंपन्न व्यवहार, अनिंद्य प्रवृत्ति, काम-क्रोधादि अंतरंग शत्रुओं का निग्रह (दमन), दीर्घदृष्टि, विवेक, सौम्यता, परोपकारादि गुणों का दिवाला निकाल देता है ।

यह कैसे ? सत्त्व खो दिया इसलिए ।

सत्त्व कैसे खो दिया ? भाग्य का विचार ना करके गलत आशाओं के पीछे भाग कर ही ना ?

समझ लो; सत्त्व टिकाकर रखना है, तो गलत आशाओं के पीछे भागना छोड दो; और सत्त्व होगा, तो ही गुणों की रक्षा, धर्मसाधना वगैरह आत्मोन्नति के मार्ग पर चल सकोंगे ।

(i) सत्त्वहीन मनुष्य तो बात-बात पर तमतमा जाता है, गरम हो कर क्लेश-कंकाश करता है । क्षमा, सौम्यता इन्हें महंगे पडते है ।

(ii) सत्त्वरहित जीव चलते-फिरते-बात बात में झूठ बोलते है और सत्य को ठोकर मारते है । तो फिर अवसर आने पर सत्त्व की रक्षा की बात कैसे होगी ?

(iii) सत्त्व नहीं होने से ही अवसरोचित शक्य हो ऐसे भी परमार्थ गँवा कर स्वार्थवश अंधे बने रहते है ।

ऐसे तो कई गुणनाश और दुर्गुणपोषण सत्त्वहीनता के कारण स्फुरित ही रहते है ।

यह सत्त्वहीनता क्यों ? कहो कि आशा में रगडने के कारण ही । गलत आशा छोड दे और इसके बदले देव-गुरु-धर्म और स्वयं के भाग्य पर विश्वास रखे, तो अभी सत्त्व खिलेगा और सात्त्विक बनकर गुणरक्षा तथा दानादि विविध धर्मपराक्रम अच्छी तरह से आजमा पायेंगे ।

किसकी खातिर क्या नजरअंदाज किया जाये ? :

अंजना ने अपनी अल्प सत्त्वता देखी, इतना ही नहीं पर वो कहती है : 'हे भाग्यवान वीर पुरुष ! मेरे जैसी दीन की खातिर आप क्यों जीवन का नाश कर रहे हो ?'

अर्थात् ? मतलब यही है कि, ऐसे महाकिमती जीवन का भोग किसी बहुत ही किमती वस्तु की खातिर किया जाता है, पर तुच्छ की खातिर नहीं !

समझ रहे हो यह ?

'हाँ ?'

'क्या हाँ ? अंजना की खातिर पवनंजय को प्राण त्याग नहीं करने चाहिये; यही समझ रहे हो ना ?'

नहीं, ये नहीं समझना है; समझना तो यह है कि- 'मुझे मिला हुआ यह धर्मजीवन महाकिमती है, इसका त्याग तुच्छ लक्ष्मी और तुच्छ विषयों की खातिर नहीं करना

है । यहाँ पर प्राप्त हुए देवाधिदेव और उनका शासन तथा महाव्रतधारी गुरुजनों का संयोग महाकिमती है, इन संयोगों के महालाभ उठाने के बदले, इनसे सुंदर गुणों की, सुकृतो की और शुभ भावनाओं की कमाई करने के बदले, इन महा-महंगे और किमती संयोगों को युंही निष्फल करने का जो कार्य मैं कर रहा हुँ, वह किसकी खातिर ? तुच्छ तृष्णा, तुच्छ ममता और तुच्छ धन-माल की खातिर ही ना ? यह मेरी कितनी बडी मूर्खता है ! मुझे इस बात का ख्याल भी नहीं कि 'ये मैं किसके लिए किसको नजरअंदाज कर रहा हुँ ? किसकी अवहेलना कर रहा हुँ और वो भी किसकी खातिर ?' ऐसी ऐसी समझ पाने की है ।

मानव जीवन की दिव्य विशेषताएँ कौन सी ? इसका ख्याल नहीं, ना ही इसकी समझ ! इसीलिए आज यह विशेषताएँ तुच्छ धनोपार्जन और भोग-विलास की लंपटता में तिरस्कृत हो रही है । जरूरत है विवेक की ! विशेषताओं के महत्त्व को जानने की जरूरत है ।

- सत्य और नीति की विशेषताएँ कितनी ? और सत्य और नीति की बलिदानी पे मिली संपत्ति और सुख-सुविधाओं की विशेषता कितनी ?
- तप, त्याग और इंद्रियजय की किमत कितनी ? और इसको नजरअंदाज करके पोषित की गयी काया और इन्द्रियों की किमत कितनी ?

इस विशेषताओं का फर्क मापना है, तोलना है । सच्चा फर्क समझ में आये तब मन यह निर्धारित करेगा कि 'कम किमती वस्तुओं की खातिर महाकिमती वस्तु की अवहेलना ना करुँ ।' शायद कभी मोहादि वश महाकीमती वस्तु छोडनी भी पडे, तो कम से कम खेद का पार ना रहें ! स्वयं की मूर्खता का आभास हो ! भारी निरासा महसूस हो कि 'इसमें मेरा क्या होगा ?'

फिर, ऐसी महाकिमती साधना के नुकसान पर इतना ज्यादा उद्वेग होगा कि इसके त्याग से प्राप्त तुच्छ वस्तु का हर्ष नहीं होगा, ना उसकी प्रशंसा होगी और ना ही उसमें निश्चिंतता मिलेगी, मन सदा चिंतित रहा करेगा और फिर तो महाकिमती

साधना की खातिर तुच्छ लक्ष्मी, तुच्छ विषय और मान आदि को छोडने व नजरअंदाज करने का सत्त्व हासिल करने के लिए अत्याधिक कोशिशें शुरू हो जायेंगी ।

अंजना, स्वयं जैसे तुच्छ प्राणी की खातिर खुद के पति महाकिमती जीवन का नाश क्यों कर रहे है ? इस बात से दु:खी है और कल्पांत में; आखिर में स्वयं के सिर पर इतना कष्टपूर्ण संकट आया; उसमें भी दोष दूसरे किसी का नहीं, मात्र स्वयं के पूर्वकृत कर्मों का देखती है । यह विवेक दृष्टि कम नहीं है ! कम जागृति नहीं है ! ना सास की गलती, ना ही ससुर की, ना पति को कारण समझा, ना माता-पिता और ना ही बडे भाईयों का, बस मात्र अपने पूर्वकृत कर्म को ही गुन्हेगार माना ।

कर्म का दोष देखना; यह दिव्य दृष्टि :

जैनशासन की बलिहारी है कि स्वयं के कर्मों का दोष देखने की दृष्टि देता है ! स्वकृत कर्मों का ही दोष देखने की दिव्यदृष्टि जगाने के बाद कोर्ट-कचेरी जाने की जरूरत रहती नहीं । एक-दूसरे के सामने मोर्चा निकालने का, सामने बल दिखाने का और उसका कचुंबर करने तक की काली लेश्या धारण करने की भी आवश्यकता होती नहीं । इसमें तो केवल स्वयं के पापों के ढेर का चूरा करने की और सुलभ ऐसे अरिहंतादि चारों के शरण तथा परमेष्ठी के स्मरण द्वारा पुण्यानुबंधी पुण्य की राशि उपार्जन करने की ही बात होती है ।

कल्याणमित्र महासती मदनरेखा की प्रेरणा से उसके पति युगबाहु ने यही तो किया था, तब जाकर वो पाँचवें देवलोक में ऋद्धिसंपन्न देव बनें और विशेष में जैनधर्म की अटल श्रद्धा प्राप्त कर भावी उज्ज्वल जीवन को सुलभ बना दीया ।

गजसुकुमाल, खंधकमुनि, साधु सुकोशल आदि ने इसी प्रकार अधिकार प्राप्त कर, सर्व कर्मबंधनों से मुक्त हो सिद्धि पद प्राप्त किया ।

अंजना को मामा की सांत्वना :

अंजनासुंदरी पति की विशेषता, स्वयं की अल्पसत्त्वता और कर्मों का दोष विचारती कल्पांत भरे रुदन कर रही है और उसके मामाश्री प्रतिसूर्य सांत्वना दे रहे है । कैसी सांत्वना दी होगी ? ऐसी ही कुछ कि,

सांत्वना के लिए विविध प्रकार की समझ :

'भाणजी ! शांत हो जा, धैर्य धारण कर ! इतना कुछ सहन करनेवाली और तत्त्व समझनेवाली, तुझे इतना कल्पांत करना चाहिये क्या ? हम पवनंजय को खोजने का प्रयत्न करेंगे । तेरे पिता और दूसरे लोग भी ढूँढने के लिए निकल गये है, इसलिए शायद पवनंजय को उन्होंने अब तक ढूँढ निकाला होगा तो अधीरता किस लिए... ?'

'जीवन में एक दशक (दस साल) अच्छा-सुखद तो दूसरा दसका बुरा-दुःखद चलता ही रहता है । तुने इतना सहन किया है, तो क्या लगातार सहने का ही चलता रहेगा ? आपत्ति-संपत्ति कभी कायम रहती है क्या ? सूर्य अस्त होने के बाद क्या फिर से उदय नहीं होता ? समुद्र में भाटा आने के बाद क्या बाढ नहीं आती ? मानव के जीवन में भाग्य का चक्र घुमता ही रहता है, इसीलिए मुझे लगता है कि तुने जो सहा है, वो सहने के दिन अब बीत गये है और सुख-शांति के दिन नजदीक आ रहे है । गुफा में महामुनि श्री ने तुझे क्या कहा था ? वो तो विचार कर । इसलिए अब कल्पांत ना कर ।'

'शोक और कल्पांत से तो भाग्यवती ! कुछ मिलने वाला नहीं, बल्कि ओर ज्यादा कर्मबंधन होंगे । योग्य पुरुषार्थ करने के बदले रोते बैठे रहने वालों पर तो जैसे भाग्य हँसता है कि - 'यह नादान जीव कैसा मूर्ख है ! मेरी मार तो खा ही रहा है, पर रोते बैठने रहने से अपने हाथों खुद को मार रहा है ! मार के दर्द को स्वयं ही दुगुना कर रहा है ।'

'भवितव्यता बलवान है, यह भी ध्यान रख । भावी भावानुसार जो होना है, उसको अटकाने या रोकने का सामर्थ्य किसी में है क्या ? तीर्थंकर जैसे परमात्मा भी इसे नहीं रोक पाये, तो इसके सामने अब धीरज धरना ही योग्य है ।'

'सही मायनों में तो जिसे भगवान जिनेश्वर देव का आलंबन मिला है, इनके शासन की सहाय मिली है, वो तो आपत्तियों के तुफान को भी कह सकते है कि 'मेरे दिल में जब तक तीन लोक के नाथ बसे है, जगतद्‌यालु जिन परमात्मा बसे है, वहाँ तक मेरे सद्‌भाग्य की अवधि नहीं । मुझे कभी रोने की जरूरत नहीं । इन्द्रों से पूजित ऐसे वीतरागी प्रभु और इनका शासन, यह मिलने वाले को तो चिंतामणि और कल्पवृक्ष मिल गया है, दूसरी तुच्छ बातें, वस्तु की कमी क्यों लगेगी ?'

'बाकी तो, अंजना तुं इतना समझ ले कि आपत्ति यह तो अपनी आत्मा का संशोधन कर शुद्धि करने का अग्निताप है ।

- सोना अग्नि में जलकर क्या कुछ खोता है ? कुछ भी नहीं ना ? उल्टे, रहा-सहा मैल भी जल कर साफ हो जाता है, सोना शुद्ध हो जाता है ।
- लोहा हथौडे की मार खाकर सुंदर रूप और अलग आकार पाता है ।
- पाषाण; यह भी शिल्पी के हाथों से टाँकने खाकर परमात्मा की मूर्ति बन जगत में पूज्य-प्रतिष्ठित बनता है ।'

इत्यादि जैसे-तैसे समझाकर अंजना को शांत किया और उसे लेकर सब विमान में बैठकर पवनंजय को ढूँढने निकल पडे ।

पवनंजय का बचाव

प्रह्लाद को पवनंजय का पता :

अब यहाँ कुछ ऐसा बना कि पवनंजय के पिता प्रह्लाद पवनंजय को ढूँढते-ढूँढते बराबर उसी समय भूतवन में आ पहुँचे, जब पवनंजय वनदेवता की साक्षी में अपनी भूल का इकरार और अंजना को कहने का संदेश सुना रहा था और अग्नि की चिता में कूदने के लिए गगन में ऊपर चढा था । प्रह्लाद ने उसके शब्द सुने और घबराहट में भाग कर वहाँ पहुँचे । जैसे ही पवनंजय कूदने गया, वैसे ही प्रह्लाद उसे पीछे से जल्दी अपने दोनों हाथों से पकड लेते है ।

धर्मक्रिया में धून :

पवनंजय को वो पीछे से आते है, इसकी खबर भी नहीं थी । क्योंकि वो तो एक ही धून में था कि अब इस जलती चिता में स्वयं को झौंक दुँ ।

धून चीज ही ऐसी है कि मानव को आगे-पीछे का देखने भी नहीं देती, इतना ज्यादा ओत-प्रोत कर डालती है । इसीलिए ज्ञानी कहते हैं कि जिस प्रकार अर्थ-काम में लंपट संसारी जीव इसकी धून में आगे-पीछे क्या हो रहा है ? इसका कोई ख्याल भी नहीं रखता, उसी प्रकार धर्म में लंपट जीव को धून लगाकर धर्म में ऐसा ओतप्रोत हो जाना चाहिये कि आगे-पीछे कहीं मन ना भटके । प्रभु के दर्शन, पूजा या चैत्यवंदन में आत्मा ऐसे मस्त हो जाना चाहिये कि उसकी ही एक लेश्या हो ।

महामंत्री पेथडशाह फूलों से प्रभु की अंगरचना इतने ओत-प्रोत हो कर करते है कि पीछे से राजा आकर बैठ गया, पर स्वयं का ध्यान भी खींचा, खबर भी नहीं पडी । यह तो राजा ने मंत्री को एक-एक फुल देनेवाले सेवक की जगह पर बैठ के गलत फुल दिया, तब पेथडशाह पीछे मुडे और राजा को देख आश्चर्यचकित हो गये ।

जैसे यह क्रिया वैसे ही नवकारवाली, सामायिक, स्वाध्याय, उपदेश-श्रवण आदि

क्रिया में धून लगानी चाहिये, ओत-प्रोत बन जाना चाहिये, इसकी ही एक लेश्या रहनी चाहिये । आगे-पीछे की किसी विषय-वस्तु पर ध्यान ना जाये, तो ही इन ऊँची क्रियाओं के ऊँचे फल मिलते हैं, आत्मा का युगोयुग से चंचलता का स्वभाव इधर उधर आँखें भटकती रहने की बुरी आदत कम होती जायेगी और आत्मा, मन, हृदय; ये शुभ प्रवृत्ति में स्थिर होगा ! महा आनंद का अनुभव होगा ।

पवनंजय अपनी धून में था, उसे पिता आये है; इसका आभास भी नहीं हुआ, बस कूदने की उतावल थी उसे; उसी वक्त किसी ने उसको पकड लिया, तो एकाएक चिल्ला पडा :

'प्रिया के वियोग का दु:ख के निवारण के लिए मृत्यु को अपनाने में कौन बीच में अवरोध पैदा कर रहा है ?'

प्रह्लाद की भी आँखों में आँसू भर आये, तुरंत कहता है : 'विघ्नभूत दूजा ओर कोई नहीं है, पर यह तेरा पापी पिता है । जिसने पुत्रवधू के देश-निकाल जाने की उपेक्षा की ।'

स्वयं के प्यारे पुत्र को इस भभकती चिता में आत्मबलिदान देने की परिस्थिति देख प्रह्लाद तडप उठा ! और इसमें मूल कारण; में जो गुनहगार नहीं थी, ऐसी अंजना को निकाल देने और उसकी की हुई उपेक्षा के लिए उसे भारी पश्चात्ताप होने लगा ।

जबकि, उसने नहीं निकाला, ना ही निकलवाया, जो भी किया वो केतुमती ने किया, फिर भी इनका सज्जन दिल ऐसे ही समझ रहा है कि 'मुझे एक महत्त्वपूर्ण स्थान पर होकर भी खबर लगने के बाद भी उपेक्षा नही करनी चाहिये थी ।' उन्हें समझ आ रहा है कि इतना ही नहीं, पर अपना बडप्पन भुल कर पश्चात्ताप के साथ इकरार कर रहे है ।

सज्जनता क्या काम करती है ! स्वयं अकार्य करना या दूसरों के पास अकार्य करवाना तो भयंकर अपराध समझती ही है, पर दूसरों द्वारा होने वाले अकार्य को जो खुद रोक सके ऐसे योग्य स्थान-सत्ता पे हो, तब भी उसे रोकने बजाय उसकी

उपेक्षा करे; वो भी अनुचित; ऐसा समझती है और उपेक्षा के कारण दिल में दर्द अनुभव करें और साथ ही साथ प्रगट इकरार करें । सज्जन की यही विशेषता है ।

प्रह्लाद को भी उपेक्षा करने के बाद बेहद अफसोस हुआ और पुत्र के सामने खेद जाहिर कर के कहते है :

'बिना बिचारें ही एक अनहोनी तो पहले ही तेरी माता कर बैठी, अब मेरे लाल ! दूजी अनहोनी तुं क्युं करने तैयार हो गया है ? ना कर ऐसा; विशेष क्या कहुँ तुझे, तुं स्वयं बुद्धिमान है, तो धैर्य रख, जल्दबाजी ना कर ! अंजना की खोज करने के लिए हजारों विद्याधरों को मैंने आदेश किया है । वो खोज ही रहे है, तो हे वत्स ! उनके आ जाने की प्रतीक्षा कर ।'

बिना विचार किये कार्य का अशुभ फल :

प्रह्लाद का हृदय गद्गद हो गया ! पत्नी ने एक अविचारी कार्य किया उसका कटु फल नजर के सामने अनुभव हो रहा है, इसलिए पवनंजय को जलकर मरने जैसे अविचार पूर्ण कार्य करने से रोकता है । बात तो सही है कि केतुमती थोडा भी विचार करने नहीं रुकी, तो राजकुल के वैभव को भुगतने वाली और महासती ऐसी अंजना को, एक गरीब से गरीब और एक अति साधारण स्त्री के जैसे घोर तकलीफें झेलनी पडी ।

सोचे समझे बिना, पुख्त बिचार करें बिना प्रवृत्ति के फल में हमेशा महान आपत्ति, अनर्थ और पछतावा ही मिलता है; यह बात आदमी पहले ही समझ ले, तो वो कई मुसिबतों से बच जाता है ! कहीं कि -

बिना सोची प्रवृत्ति करके खडी हुई आपत्ति को सहना; यह महँगा है, इससे ज्यादा अच्छा यह होगा कि सोचने के लिए थोडा समय निकाले; यह सस्ता है ।

- कैकेयी ने बिना विचारें माँगा, तो राम और सीता जैसे पुण्यशालीयों को भी वर्षों का वनवास सहने का अनर्थ खडा हुआ ।

- भरत चक्रवर्ती ने बिना विचारें भाईयों के पास आज्ञा मनवाने की घृष्टता की, तो 99 भाईयों को खो दिया !
- नंदराजा ने बिना विचारें अपने विश्वासी मंत्री शकडाल पर अविश्वास दिखाया, तो एक महामंत्री के नाश का निमित्त बना ।
- नल और पांडव जुँए में बिना विचारें दम आजमाने गये, तो राजपाट ही खो बैठे और जंगलों में भटकना पडा ।

अविचार पूर्ण किये गये कार्य के पीछे महान कलह और पश्चात्ताप सहन करने से पहले से ही विचार कर लेने में क्या गलत है ? तो अब पूछोंगे कि -

प्रश्न : तो फिर कोई भी साहस किस प्रकार हो सकेगा ?

उत्तर : अच्छे और योग्य साहस को करने से पहले भी विचार अवश्य होता है, वो साहस सिर्फ इसलिए कहलाता है कि निडर बनकर अपनी शक्तियों का एकदम उपयोग करना होता है । बाकी बिना विचार के साहस तो विवेकहीन कहे जाते है ।

- बिना विचार बोल जाने वाले अक्सर झूठे पड जाते है, और सामनेवाले से ऐसा वैर-विरोध खडा करते है, जो कभी कभी जीवन भर चलता है । कैसे कलह बढाते है ? कैसे बात का बतंगड करते है ? जो जीवनभर तक विरोध खडे करवाते है । यह सब दुनियाँ में और स्वयं के जीवन में भी देखने को मिलता है या नहीं ? तो फिर क्या अपने मुँह से शब्द् निकालने से पहले पूरा विचार नहीं करना चाहिये ?
- बिना विचार खाने के कारण होने वाली पीडा और रोगों का अनुभव तो है ना ? जिसे कई बार महीनों तक या जीवनभर झेलना पडता है । है ना ?
- तो बिना विचारें प्रवृत्ति करने में नुकसान अनुभव नहीं किया ?
- बिना विचारें पैसे लेने में, देनें में, व्यापार करने में कितना सहन करना पडता है !

- अरे ! एक नौकर को भी बिना विचारे छुट्टी देने में या नौकरी पर लेने में बाद में परेशानीयाँ नहीं होती क्या ?

न्यायपूर्ण बर्ताव :

प्रह्लाद अकार्य का न्यायपूर्वक इकरार करते है । जीवन में न्यायसंपन्नता आवश्यक मानी है ? यह ऐसे प्रसंगो से मापा जा सकता है । अपनी भूल स्वीकारने में बाह्य रूप से दीन दशा जैसे प्रतीत होता है, पर वास्तव में उसमें सत्त्व प्रगट होता है । सात्त्विक मनुष्य ही बिना किसी संकोच के, और स्वयं का हल्का लगेगा ऐसा भय रखें बिना, सात्त्विकता से भूल कबूल करते हैं ।

मोक्षमार्ग की सच्ची साधना के लिए ऐसी सात्त्विकता, न्यायपूर्ण बर्ताव आदि गुणों की भी बहुत ही आवश्यकता है ।

प्रह्लाद पवनंजय को कहता है : 'अब तुं भी बिना विचारे साहस न कर, शांत रह, धीरज रख, विद्याधर अभी ढूँढ के आयेंगे' यह सब कह कर उसे शांत करने की कोशिश करता है ।

१७ भुतवन में अभूत मिलन

भूतवन में अंजना का आगमन :

अब दूसरी तरफ हमने देखा था कि अंजनासुंदरी को लेकर उसके मामा प्रतिसूर्य विमान में पवनंजय की खोज के लिए निकले थे । वो ढूँढते-ढूँढते, घूमते-घूमते वही उसी भूतवन में आ पहुँचे । यहाँ सब बहुत ही उत्सुकता से राह देखते बैठे थे । उनमें से कोई एक विद्याधर आकर यह भी कहता होगा कि अभी तक अंजना का पता नहीं लगा और उससे निराशा फैल जाती होगी, परंतु जैसे ही प्रतिसूर्य का विमान आने लगा, तो पवनंजय के मित्र प्रहसित ने आँसू भरी आँखो से उसे देखा । उसे थोडी आशा बंधी । वो विमान भागता हुआ तेजगति से नजदीक आ रहा है, उसमें अंजना को देख प्रहसित कूदने लगा ! हर्ष के सागर में गोते खाने लगा । जल्दी जय-जयकार करने के साथ प्रह्लाद पवनंजय को कहता है :

'देखों-देखों, वो अंजना विमान में आ रही है ।'

संसार के पदार्थों में आनंद क्यों नहीं ? :

यह सुनते ही दोनों के हर्ष के आँसू छलक पडे । खुशी की लहर लहर दौडने लगी । विचार करना, कैसा आनंद मिला होगा उनको ! अंजना वो की वो ही है, परंतु आज उसे देखते ही इतना हर्ष अनुभव क्यों कर रहे थे ? इसमें बहुत बडा रहस्य भरा हुआ है । यदि अंजना अपूर्व आनंद का साधन होती, तो पहले भी इस अपूर्व आनंद होना चाहिये था...! पर अब जो अवर्णनीय आनंद की लहरें उछल रही है, वो हमेशा क्युं नहीं टिकती ? अंजना तो हाजिर ही है !

'संसार के पदार्थों में वो स्वाभाविक आनंद नहीं है कि जो प्रत्येक समय उस पदार्थ में से मिल सके' यह सच्ची समझ रखने के बदले इसमें स्वाभाविक आनंद होने

की भ्रमणा रखी जाती है ! इसीलिए गलतियाँ होती है और फिर उस पदार्थ की खातिर कई पापों के सेवन किये जाते है ।

क्लेश, कषाय, कलह, झूठ, अनीति, धर्म की उपेक्षा..... आदि सब ऐसे ऊँचे जीवन में कैसे सेवन किये जा सकते है ? कहों कि इस भ्रमणा के कारण ही । जीव जो यह जान पाये कि आनंद संसार के पदार्थ में सहज नहीं होता, आनंद तो अमुक-अमुक संयोग बने, तो ही अनुभव किया जा सकता है ।

अंजना का विरह हुआ और पवनंजय युं जलकर मरने को तैयार हो गया, और बडी मुसीबतों के बाद अंजना मिली; ऐसे सब संयोग और परिस्थिति बनी, इसलिए ही उसी अंजना को देखते ही अपूर्व आनंद उमड पडा । यह संयोग और परिस्थिति कुछ समयोपरांत ऐसे ही नहीं बने रहनेवाले; क्योंकि कुछ देर बाद तो विरह के बाद का ताजा संयोग भी नहीं रहेगा ना ? तो ऐसा अपूर्व आनंद भी कैसे होगा ?

मानव के शरीर में दानव का दिल :

अत: वस्तु वही की वही रहती है, पर आनंद में बदलाव या कम-ज्यादा होता रहता है, तो क्या विचार नहीं करना चाहिये कि इस झूठे, मिथ्या आनंद के साधन रूप जगत की ठगने वाली चीजों की खातिर मानव के शरीर में दानव का दिल क्युं रखे ?

कहो तो सही कि ईर्ष्या, क्लेश, झगड़ें होने का कारण क्या ? सामने वाले के पास बहुत धन है, या उसे बहुत मान मिल रहा है; ऐसे ही किसी निमित्त पर ना ? पर वहाँ जो इतना समझ ले कि 'यह बिचारा दगेबाज चंचल धन-माल में या पल भर के व्यर्थ के मिथ्या सम्मान में फँसा हुआ है,' तो फिर उस के प्रति ईर्ष्या होगी या दया ?

एक ईर्ष्या की खातिर कितने पापों का आचरण किया जाता है ! उसकी निंदा, उस पर झूठे आरोप, उसके सामने माया-प्रपंच वाली कुप्रवृत्तियाँ; यही सब सहज ना ? यह सब करने में फिर यहाँ मिली महामहत्त्व पूर्ण, अनमोल आत्मचिंता,

परमात्मस्मरण, शुभ भावनायें वगैरह खोना ही पडेगा ना ? गणिका (वैश्या) भी, कम से कम, पूंजी पर व्यापार ना करके उसे संभाल के रखती ही है, पर यहाँ तो हम इससे भी चुके ! मिली हुई पुण्य पूंजी, धर्म पूंजी और अच्छे संस्कारो की पूंजी बढानें की बात तो दूर रही, उल्टे उसे ईर्ष्या, झूठ, क्लेश, प्रपंच आदि करके घटाने के कार्य किये !

और आज इन दुर्गुणों का रोग नयी प्रजा-पीढी को भी बुरे तरीके से असर करता है । न जाने, दिल दानव के बन गये हो, कि इन धोखेबाज धन-माल के मान-पान के पीछे बात-बात में हंसी-ठिठोली, तेज-स्पर्धा, विरोध और वैमनस्य, झूठ और अनीति, तृष्णा एवं लंपटता आदि के तांडव मच रहे है । इनके सामने असंख्य भाषणों का कोई असर होता नहीं दिखता ।

आत्मा के उच्च ख्याल और परलोक का विचार :

क्यों ऐसे ? आत्मा का उच्च ख्याल और परलोक का जो विचार चाहिये, वो नहीं है । और अफसोस कि आज के समाज-सुधार की बातें करनेवालें ये रोग के कारण पर ध्यान नहीं देतें और सुधार के लंबे-लंबे लेक्चर देते हैं बस । अब बोलो; रोग जायेगा कैसे ? प्रजा में जब काया ही प्रधान है, काया की सुख-सुविधा को ही प्रधान माने जाते है और यह सब झूठ-अनीति से मिलता है, वैर-विरोध से भोगा जा सकता है, ऐसी यह मान्यता हो, वहाँ फिर यह दुर्गुणों को टालने के भाषण कौन सुनेगा ? पहले तो रोग का निदान होना चाहिये ।

निदान यह है कि (i) काया से भी बहुत अधिक ख्याल इसके अंदर रहने वाली आत्मा का होना चाहिये और (ii) हमारी नजरों के सामने इस लोक से ज्यादा परलोक की मुख्यता रहनी चाहिये; यह नहीं है, इसीलिए ये दुर्गुणों का रोग सताता रहता है । काया की संभाल जरूरी नहीं, या फिर इस लोक का विचार भी व्यर्थ; ऐसा नहीं, परंतु यह सब आत्मा और परलोक को भुल कर नहीं, बल्कि उसी का मुख्य रूप से ख्याल रख कर होने चाहिये ।

पहले के काल में यह सब था, तो विद्यार्थी-अवस्था से विनय, सेवा-भक्ति, सत्य, नीति आदि गुणों का पोषण होता था । आज क्या पोषण हो रहा है वो हम सब की नजरों के सामने ही है ना ? पहले तो हजार रुपये वाला अमीर कई लोगों के दु:ख दूर करता, पर आज तो करोडपति और लखपति भी क्या करता है ? वो स्वयं नजरों से देखते हो ना ? आत्मा का उच्च ख्याल और परलोक का प्रधान (प्रथम) विचार नहीं है, इसीलिए तो यह घोर हिंसा दिनों-दिन बढती जा रही है । घोर हिंसा से पैदा होती-बनती वस्तु के मोह बढें ! लक्ष्मी का बेफिजुली राग बढा ! और उसके पीछे निष्ठुर हृदय, गबन, हडप, मान और रोषादि कई दुर्गुण भी खिलें हैं ! मौज-शोक और भोग-विलास की भयंकर भूख जगी है ! इसके पीछे मर्यादा भंग, उद्भट जीवन, बेसुमार साधन, बेधडाम-बेफिजुल के खर्चे आदि... क्या क्या नहीं हुआ ?

काया का उच्च ख्याल और इसी जीवन का विचार; इसी ने यह तुफान लाया है और हद से ज्यादा बढाया भी है । जिस देश में आत्मा और परलोक की मान्यता ही नहीं, वो भटक भी जाये तो कोई बात नहीं, पर जहाँ इसकी मान्यता है; ऐसा यह आर्य देश भी भटकने लगे तो ? अभी भी समय है, जागों ! आप में और आपकी संतानो में आत्मा के ऊँचे, उच्च ख्यालों को जगाओं ।

- हम मिट्टी के पुतले नहीं हैं । अनंत जन्मों के संस्कार और पुण्य-पाप लेकर आने वाली आत्माएँ हैं ।
- ज्ञान, वैराग्य और संयम के महा योग्य-पात्र हैं ।
- दया, दान और इंद्रिय-दमन के महा अधिकारी हैं ।
- उच्च विवेक और उच्च बर्ताव के हकदार हैं !

क्यों यह पात्रता, यह अधिकार और इस हक को छोड़ दें ? जाने दें ?

मिट्टी के खोखे समान यह शरीर का ऊँचा ख्याल करने के बदले आत्मा का उच्च ख्याल रखें, तो इस जीवन पर अधिकार आजमा कर आजाद हो जायेंगे । बाकि

कलेवर, खोखा, शरीर; जो भी कहो, इसका ख्याल और इसे मुख्य समझने के हल्के अधिकार आजमाने में परिणाम तो बरबादी ही है ।

जबकि परलोक को प्रधान माने, तो चलते-फिरते यही ध्यान रखेंगे कि यह करने से मेरा परलोक का भार तो नहीं बढ़ रहा ना ? मेरा परलोक तो नहीं बिगड़ेगा ना ? मुझे तो परलोक सुधारना है, तो मुझे यहाँ झुककर सहना होगा, सुख कम भोगने मिले और धर्म के लिए कष्ट उठाना पडे, तो भी चिंता नहीं, बल्कि इसे तो जीवन का महत्त्वपूर्ण अधिकार मानकर निभाऊँगा, और उच्च जीवन का अधिकार मान सम्मान पूर्वक अपना लूँगा, परंतु मेरा दीर्घ परलोक बिगाड देने वाले ऐसे तीव्र क्रोध के, स्वच्छंदी सुख के और धर्म के क्षेत्र को अखाडा (कुस्ती का मैदान) करनेवाले जीवन अधिकार नहीं आजमाने । आत्मा की उच्चता का ख्याल और परलोक का प्रधान विचार जीव को मात्र मानव ही नहीं, देव तुल्य बना देता है । जीव में से शिव बना देता है । अस्तु ।

प्रह्लाद का मिलन प्रतिसूर्य से :

बात यह चल रही है कि अंजना आ रही है, यह देख पवनंजय के आनंद का पार नहीं रहा । अपूर्व आनंद है । इतने में विमान नीचे उतर आया, प्रतिसूर्य और अंजना बाहर आ रहे थे, तभी प्रह्लाद को दूर से देख दोनों ने भक्तिवश जमीन पर मस्तक झुका कर नमस्कार किया ।

बुजुर्गों के प्रति विनय की बलिहारी है । वहाँ फिर यह नहीं देखा जाता कि 'आपने हमारा क्या भला कर दिया ?' यह तो स्वार्थ दृष्टि है । आर्यत्व ऐसी स्वार्थ दृष्टि से उपर उठे हुए है कि जो बडों के प्रति विनय और पूज्यभाव को भुला दे । बड़े, बड़े ही होते है और जो पूज्य है, वो पूज्य ही रहते है ।

अंजना और उनके मामा; दोनों प्रह्लाद को नमस्कार करते हैं । प्रह्लाद तुरंत ही नजदीक आकर प्रतिसूर्य से गले मिलता है और फिर पौत्र हनुमान को गोद में लेकर नीचे बैठ जाता है, और आश्चर्य का पार नहीं ! देखते है कि - 'जिस महासती

को हमने बाहर निकाल दी थी, उसके अपने माता-पिता ने भी जिसे सहारा नहीं दिया था, उसे प्रतिसूर्य मामा ने आश्रय दिया । कितनी महानता इस मामा की ! इन्होंने हमारे उपर कितना बडा उपकार किया !' यह देख कर क्या वो उसे गले नहीं लगायेंगे ? क्या आश्चर्यभरी गद्‌गदता उमड नहीं पडेगी ? वो बोल उठे :

प्रह्लाद की गद्‌गदवाणी :

'हे प्रतिसूर्य ! दु:ख के महासागर में डूबते मेरा और मेरे कुटुंब का तुने उद्धार कर दिया ! वास्तव में हमारे संबधियों में आपने ही अग्रगण्य बंधु हो ! मेरे वंश में इक्षु के पर्व समान यह जिससे आगे वृद्धि हो ऐसी, और अच्छी कुलशाखा की भावी संतान की जननी, ऐसी इस पूत्रवधू को हमने तो उसकी बिना किसी गलती त्याग दीया था, परंतु आपने इसका रक्षण किया, यह बहुत उत्तम किया । इसका रक्षण करके तो आपने हमारी भावी संतति को सलामत रखा । कहाँ हमारी क्षुद्र चेष्टा ! और कहाँ आपकी गुणगौरव भरी इस महासती का जतन करने की उत्तम चर्या ।'

समझा जाये तो प्रह्लाद के इन शब्दों पर कितने ख्याल किये जा सकते है ? दुनियाँ में सच्चा बंधु वही है, जो अवसर पर दु:ख के सागर से बचा ले । सामने वाला दु:ख में पडा हो, तब शक्ति होने के बावजूद भी हाथ जोड के बैठा रहने वाला इन्सान बंधु नहीं; तो फिर उसके दु:ख को बढ़ाने वाला तो बंधु कैसे कहलायेगा ?

मानव के इन अनमोल अवतार को पाने के बाद भी जीव कैसा मोह मूढ रहता है, और पाप कर्म का कैसा गुलाम बन कर रहता है कि सामने वाले का दु:ख दूर करने के सुनहरे मौके के समय भी पैसों को महत्त्व देता है ! स्वयं को अहमियत देता है ! स्वयं के घमंड को मान देता है ! खबर नहीं कि :

- पैसा तो उलटे पैर से रवाना हो जायेंगे ! और रहेंगे तब भी मलिन भावनाएँ और मलिन कार्य ही करवायेंगे !

- तब, अब तक हिफाजत से रखी ये काया भी कौन सी ईमानदारी दिखाती है ? एक दिन वो भी दुर्बल बनने वाली ही है ! मिट्टी में मिल जाने वाली है !
- तो 'सामने वाले ने मेरा यह बिगाडा था या फिर सामने वाले ने मेरा क्या भला कर दिया, तो मैं उसकी सहायता क्युं करूँ ?' ऐसे घमंड और स्वार्थी गणित-हिसाब शाश्वत काल के बहीखातें कौन लिखकर रखने वाला है ?

उल्टे, इससे चिकने कर्मबंधन और कषायों के कुसंस्कार स्वयं के ही आत्मा पर ऐसे दृढ बन रहे है कि भावी दीर्घकाल को भारी दु:खमय कर देंगे ।

कई बार तो ऐसा भी होता है कि भाई-भाई की या अडोसी-पडोसी की सहायता करने की इच्छा भी होती है, पर फिर भी ऐसा करने पर पत्नी को बुरा लगता है या बेटा को बुरा लगता है, इसलिए वो उसकी सहायता नहीं करता और उस दु:खी भाई-बंधु की तरफ से आँखें फेर लेता है, तो क्या भविष्य में जब स्वयं पर संकट आयेगा और यदि सामने वाला मुँह फेर लेगा तब पत्नी बचाने आयेगी ? यह पैसा, यह जात-पात और यह घमंड रक्षण करेंगे ?

वर्तमान में दूसरों के दु:ख दूर करके उनकी सहायता करना; यह तो भविष्य में अपने दु:ख के समय सहायता मिले, इसलिए पुण्य की लिखाई चिट्ठी जैसा ही है ।

लिख के रख लों, दूसरों को दिया होगा, तो मौके पर दूसरें भी देंगे । दूजों को शाता पहुँचायी होगी, तो आपको भी शाता मिलेगी ।

परोपकार के व्यसन के प्रति विचारणा :

चरित्र ग्रंथो में पूर्व के पुरुषों के ऐसे वर्णन मिलते है कि लोग व्यसनी थे । पर किसके ? परोपकार करने के, दूसरों के दु:ख दूर करने के । व्यसन समझते हो ना ? जिसके बिना चैन न पडे, जिसे पाने के लिए मनुष्य तडपने लगें, जिसकी खोज

में फिरता रहें, जिसके मिलने पर असीम आनंद का अनुभव करें । परोपकार का व्यसन उस का नाम; जिसमें ऐसा अनुभव हो ।

सवेरा होते ही पेट की चिंता में तो कौअे-कुत्ते भी निकल पडते है; और मानव भी यही करके बैठा रहें, तो उन प्राणीयों में और मानव में क्या फरक ? मानव की उच्चता क्या ? उत्तम जीवन की यही बलिहारी होती है कि उसे सवेरे से ही यह भावना हो कि किसी दु:खी का दु:ख मैं कैसे दूर करुँ ? कैसे मुझें किसी की सेवा करने का मौका मिले ? मैं और मेरा जीवन दूसरों के किसी काम आ जाये, बस !

- दु:खी के दु:ख दूर करने वालों को तो दु:खीयों के कितने आशीर्वाद मिलते है !
- उपरांत जनसमाज में उसकी ख्याति और उसके प्रति चाहना कितनी बढती है !
- स्वयं के दिल में भी ऐसे होता है कि चलों; इतनी लक्ष्मी तो उपयोगी बनी सही ठिकाने पे !
- इतना सुकृत कमाने का लाभ तो मिला !

केवलज्ञान पाकर कृतकृत्य बने हुए तीर्थंकर भगवान भी इस पृथ्वीतल पर पैदल विचरकर दुखियों के दु:ख दूर करते हैं ! यह विचार कर भी हम दूसरों भी दु:ख दूर करने के प्रयत्न करते रहेंगे तो, परोपकार का व्यसन अर्थात् लत पड जायेगी ।

प्रह्लाद प्रशंसा करता है :

प्रह्लाद प्रतिसूर्य की प्रशंसा करता है कि आपने तो अग्रगण्य (सर्वश्रेष्ठ) बंधु का कार्य किया है, क्योंकि हमने जब अंजना को जब निर्दोष होते हुए भी बाहर निकाल दी तब आपने उसका अच्छे से रक्षण किया । इसका रक्षण करके तो आपने हमारी भावी वंशवृद्धि के प्रेरक बन गये । अच्छा किया आपने; जो इसे दु:ख के सागर में डूबने से बचाकर बाहर निकाला ।

१८ आनंद उत्सव

पवनंजय भी बहुत आनंदित हुआ । उसकी आत्मा में, समुद्र में जैसे तूफान उठता है, वैसे ही दु:ख का तूफान उठा था, वो अब तुरंत ही शांत हो गया । दु:ख भी शांत हो गये । अंतरात्मा में जो शोक की आग भडक उठी थी, वो भी अब शांत हो गयी थी । उसी समय सभी विद्याधर राजाओं ने अपनी विद्या के सामर्थ्य से वहीं जंगल में मंगल किया । महान आनंदोत्सव मनाया । चन्द्र उदय होने से जैसे समुद्र की लहरें ऊपर उठती हैं, वैसे ही इस उत्सव से उनके हृदय में आनंद की लहरें उछलने लगी । हर्ष की तरंगो ने हृदय को आनंद से भीगों दिया ।

सब हनुपुर में :

उत्सव मनाकर सब वहाँ से विमान में बैठकर हनुपुर की तरफ निकले । विमान गगनमार्ग से जा रहे थे । विमानों के कारण आकाश भी प्रकाशमय बन गया था । दूसरी तरफ अंजना के पिता महेन्द्र को खबर पहुँचा दी गई, इसलिए वो भी पत्नी मानसवेगा वगैरह पूरे कुटुंब सहित हनुपुर की दिशा में निकल पडे । पवनंजय की माता केतुमती आदि को भी ले आये । सब हनुपुर आ पहुँचे । अब तो पूछना ही क्या ? कुटुंब पूरा इकट्ठा हो गया ! विद्याधर राजा भी इकट्ठे हुए ! खुशी की कोई सीमा नहीं ! पहले से भी ज्यादा बडा उत्सव मनाया गया, और वो भी विद्याधर राजा मनाये, तो उसकी तो बात ही क्या करनी ? पूरा नगर और पूरा वातावरण उत्सवमय बन गया !

धर्म पाने का सच्चा आनंद कैसे मापा जा सकता है ? :

उत्सव मनाने का सिखना पडता है ? नहीं, अंतर में हर्ष का उछाल ही यह करवाता है । हर्ष, आनंद के अतिरेक ऐसे हैं कि यह सामान्य जीवन की अपेक्षा विशिष्ट कार्यक्रमों द्वारा प्रगट हो जाते हैं ।

प्रभु का जन्म होते ही इन्द्र और देवता क्यों दौड पडते हैं ? क्यों मेरु पर्वत पर जन्मोत्सव मनाते हैं ? इतना करने के बावजूद भी मानो कि बाकी रह गया हो वैसे वो नंदीश्वरद्वीप में जा कर जिन-भक्ति के उत्सव क्यों मनाते हैं ? कहो; अंतर में उछलते सच्चे हर्ष के प्रतीक है वह ! अंदर का हर्ष अंदर नहीं समा पाता और वो ऐसे उत्सवों के आयोजनों के रूप बाहर निकल पडता है ।

दावा यह करते हैं कि मेहमानों से मिलकर बहुत आनंद आता हैं, पर फिर उनका कोई कार्य ही ना किया जाय, यह होना संभव है ? नहीं ना ? उसी तरह धर्मी जीव को गुरु महाराज पधारने का, नये धर्म मिलने का, अपूर्व उपदेश सुनने का जो आनंद उभरता है, वो किसी उत्सव रूप से बाहर प्रगट न हो; यह होना संभव है ?

वैसे तो कहते हैं कि, 'महाराज साहेब ! आप के पधारने से बहुत आनंद हुआ ।' फिर क्या ? आप श्री उपाश्रय में और हम हमारें सांसारिक कार्यो में ! बहुत आनंद के उत्सव तो ऐसे होते है कि पूरा गाँव जाग जायें ।

पेथडशाह ने धर्मघोषसूरिजी म.सा. के पधारने के आनंद में ऐसा प्रवेशोत्सव मनाया कि पूरा का पूरा मांडवगढ गुँज उठा । जैन-अजैन सब जाग गये ।

यहाँ तो कहते हैं : 'साहेब ! अपूर्व वाणी सुनायी !' फिर क्या ? तो कहते हैं कि अब कल फिर हाजिर होंगे । कैसे ? जैसे आज एक-दो आये उसी तरह ! आनंद की लहरें उछल रही हो, यह अनेकों को भीगोये बिना नहीं रहेगी ? अनेंक को खींचती कि, 'चलो ! चलो ! असाधारण बातें सुनने को मिलेगी' !

जैसे एक फिल्म देखकर आते हो और फिल्मवाले से बिना कुछ एडवरटाइझिंग चार्ज लिए भी आप, कितनों के आगे वखान कर देते हो, तारीफें करते हो : 'जाओं ! जाओं । यह फिल्म तो सच में देखने जैसी है । जीवन में कभी नहीं देखी होगी ऐसी है ।' पहले अकेले गया होगा तो अब पूरे कुटुंब को भी ले जायेगा ! और तो और फिल्म का कितना गुणगान ? है ना ? तो फिर असाधारण, अपूर्व धर्मश्रवण

पाने का आनंद आया हो तो उसके लिए क्या ? एक फिल्म पसंद आयी तो इतना कुछ ! और धर्मश्रवण के लिए ?

भूलना मत; अंतर में वास्तविक हर्ष उभरा है कि नहीं ? यह उसके पीछे होने वाली हमारी प्रवृत्ति से मापा जा सकता है । इसके पीछे आपने कितना भोग दिया, इस पर जाना जा सकता है; पीछे जो कुछ भी प्रवृत्ति की जाती हो, वह हर्ष की कदर है । आप कहोंगे :

प्रश्न : उपदेश अमल में लाये या ना भी ला पाये, पर उसकी अनुमोदना के द्वारा तो उसकी कदर ही करते है ना ?

प्रभु की, गुरु की और धर्मक्षेत्रों की कदर :

उत्तर : पर यह तो उपदेश की कदर हुई । बात तो यह है, कि उपदेश सुनने को मिला; इसकी कदर की ? प्रभु की पूजा करने को मिली, इसकी कदर की ? क्या मन में यह विचार आया सही मायनों में कि-'भाई ! यह प्रभु, और यह गुरु और यह महान शास्त्र ना होते, तो यह उत्तम पूजा, वंदन, उपदेश कहाँ से मिलते ? यह पवित्र धर्मस्थान, धर्मक्षेत्र ना होते, तो कैसे कर पाते इतनी उत्तम धर्मसाधना ? इनके होने से ही ऐसी असाधारण अपूर्व समझ और साधना मिली है; महान पापक्षय और पुण्य-कमाई मिलें हैं इसलिए इन देव, गुरु, धर्म की कदर मुझे सर्वप्रथम करनी चाहिये ।

पूजन, नमस्कार या सलाह, सूचनाएँ आदि तो दुनियाँ में चाहो जितना मिल जायेंगे, परंतु इससे आत्मा की दरिद्रता कैसे मिटेगी ? यह तो इन उत्तमोत्तम पात्र ऐसे मिले है कि इनके पूजा, वंदन, विनय करके विपुल पुण्य पा सकते हैं, पाप के ढेर भी दूर होते हैं । इन महान धर्मक्षेत्रों, मंदिरों उपाश्रयों का ही उपकार है कि ऐसी अपूर्व धर्म कमाई करने की अनुकूलता दी है । तो मुझे इन धर्मस्थानों के साधारण खर्च आदि में सहयोग देने के लिए कुछ अच्छा हिस्सा देना ही चाहिये । इन देव-गुरु की सेवा में भोग देना ही चाहिये ।

आज साधारण खाते खाली क्यों पडे हैं ? किस लिए भाई ? जो इन धर्मस्थानों के द्वारा अपूर्व पुण्यों का लाभ पानेवाले आराधक कदरदान होते, तो यह खचाखच भरे होते है ना ? कृतज्ञता के अनुसार विवेक भरी सोच हो, तो क्यों कमी रह जाती इन खातो में ? क्या ऐसा कभी मन में लगा कि 'यह देव-गुरु-धर्म मुझे महान कमाई देने वाले हैं, मेरे जीवन को सफल करने वाले हैं तो मुझे भी भोग देना चाहिये ।'

- आज मंदिरों में शायद् केसर, धूप, दूध इत्यादि सब साधारण खाते से आते हैं, उनका उपयोग करते हुए कभी मन में संकोच भी आता है ? कभी मन में होता है कि महान पुण्य कमाई देने वाले इस पवित्र स्थान पर मुझे कुछ लाकर रखना चाहिये या उल्टा यहीं की चीजों का उपयोग करना चाहिये ?
- इस प्रभु ने कृपा कर के मुझे दर्शन-पूजा का लाभ दिया, इनकी सेवा मैं करुँ या पूजारी करेगा ? और वही भी किसी और के द्वारा दिये पगार पर हुआ पूजारी ? वाह !
- यह गुरुदेव ! जिनके अनेक उपकार हैं मुझ पर और अभी भी उपकारों की वर्षा कर रहे हैं, इनकी सेवा-भक्ति ना करुँ, तो कैसा कृतघ्न गिना जाऊँगा ? वो कभी शायद् मुझे कुछ डाँट भी दे, कुछ बोल भी दे, यहाँ तक की तिरस्कार भी कर दे, तो भी यह सब उनके अनंत उपकारो के सामने क्या मायने रखता है ? इसलिए मुझे यह सब तो सहर्ष सह लेना चाहिये; ऐसा होता है मन में ? कदर नहीं, कृतज्ञता नहीं, इसलिए कभी यदि ऐसे प्रसंग हो जाते हैं, तो गुरु पर नाराज हो जाते हैं, बोलना बंद कर देते हैं, यहाँ तक कि गुरु की निंदा भी करते हैं और सामने भी बोल देते हैं, है ना ?

कितनी दुर्दशा ! कितनी मोहमूढता ! कैसा कषायों का आवेश ! इसमें साधुता तो

क्या, सम्यक्त्व भी टीकेगा सही ? इनसे मिले और मिल रहे उपकारों का अहसास नहीं है, इसीलिए उठते है ना यह तूफान ?

उपकारों का अहसास ना होने के कारण ही तो मन को यह लगता है कि 'मैंने गुरु के इतने कार्य किये, इतना ख्याल रखा ।'

अरे मूर्ख ! तुने गुरु का भला किया या गुरु ने तेरा भला ? क्या तुने गुरु को संभाला या उन्होंने तुझे सत्कर्म में जोड़ कर संभाले रखा ? गुरु ना होते, तो तुं गुरु विनय, गुरु सेवा, धर्म साधना के बदले कई पापकर्मों में जा फँसता ।

भरत-बाहुबली का जीव पाँच सौ-पाँच सौ साधु की तनतोड भक्ति करके भी ऐसा नहीं मानते थे कि 'हमने इतने साधुओं का भला किया ।' उनका तो यही मानना था कि 'अहोभाग्य हमारा ! कि इन महात्माओं ने हम पर दया की, अनुग्रह करके हमें ऐसी सेवा-भक्ति के सुकृत साधने का लाभ दिया !'

विवेक :

सारांश, मान्यताओं उल्टा लेने के बदले सीधे रूप में लेनी चाहिये । विवेक का उपयोग करके भावना और मंतव्य बनाने चाहिये । अविवेक पूर्ण ख्याल यहाँ भी अपयश दिलायेंगे और भविष्य में आगे भी पाप के खड्ढे में ही गिरायेंगे । जबकि बात-बात पर यदि विवेक भरे ख्याल किये, विवेक भरी भावना और मंतव्य धरे, तो यश, पुण्य और उन्नति के शिखर पर ले जायेंगे ।

विवेक यही है कि 'देव-गुरु-धर्म और धर्मस्थान तथा धर्मखातों के हम पर कितने उपकार करते हैं' यही लक्ष्य में रखकर हमेशा यही माना करना कि 'मैं इनकी सेवा-भक्ति में चाहे कितना भी धन खर्च कर लुँ, तन-तोड के भोग देदुँ, परंतु बलिहारी ये सब भोग की नहीं, परंतु ये सब करने के लिए पात्रता देनेवाले देव-गुरु आदि की ही है ! विशेषता मेरी नहीं, इनकी ही है ! इसका अनुपम उपकार है कि मुझे यह सब लाभ दे रहे है !'

- 'यह मंदिर रूपी धर्मस्थान और देवाधिदेव मुझे पूजा-भक्ति आदि से कैसा अनुपम पुण्य-लाभ देते हैं !'
- 'यह उपाश्रय और गुरुमहाराज मुझे तप-जप-विनय-वैयावच्च-जिनवाणी श्रवण आदि के द्वारा कैसी अनुपम, असाधारण लाभ की कमाई देते हैं ।'
- 'गुरु है, तो विनय का महान धर्म का मौका मिला, गुरु ना होते तो विनय कहाँ करते ? कल्याण आज्ञा किसकी मानते ? जैनशासन में गुरुविनय और गुरुआज्ञा तो धर्म का पाया (नीव) है, महाधर्म है । यह कमाने का लाभ करवाने वाले गुरु का कितना उपकार मानुं !'
- 'ऐसे धर्मस्थान है, तो ही जिनवाणी श्रवण, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि के ऐसे ऊँचे लाभ मिलते हैं । एक मात्र संवत्सरी प्रतिक्रमण से ही कितना बडा लाभ मिलता है ! ऐसे अनुपम लाभ की सुविधा देनेवाले धर्मस्थानों का कितना महान उपकार है हम सब पर !'
- 'और धर्मखाताओं का भी कैसा अच्छा अनुग्रह हैं कि मुझे सत्पात्र में धनव्यय करने की सुविधा देकर अनुपम पुण्य उपार्जित करवाते हैं !'

इस विवेक को निरंतर ध्यान में रखे, तो कृतज्ञता की भावना के और बर्ताव के कितने अच्छे प्रवाह बहने लगेंगे ! अविवेक तो किये धर्म पर धूल डालने जैसा कार्य करता है ।

देव-गुरु-संघ-धर्मस्थान-धर्मक्षेत्र-धर्मशास्त्र आदि के अनंत उपकार मानने का विवेक तो दान-शील-तप और जिनभक्ति में तन-मन-धन का भोग देने के बाद भी मनाता है कि 'हे देवाधिदेव ! आपने मेरे पर अथाग उपकार किया । इस उपकार की स्मृति में अब खास इसके पीछे दूसरे भी भोग दे दुँ ।' यह भावना आये, तो किये धर्ममंदिर पर शिखर चढेगा ।

हनुपुर में ही पवनंजय :

हनुपुर नगर में बडा महोत्सव मना कर सब ने एक दूसरे से विदा ली ओर अपने-अपने नगर की और निकल पडे । पवनंजय; अंजना और हनुमान के साथ वही रुके । पवनंजय के हनुमान पर नये-नये मनोरथ होते जा रहे है और हनुमान भी पिता के मनोरथों के साथ आयु में भी बढता जा रहा है ।

योग्य उम्र में आते ही हनुमान विविध कलाएँ सीख जाता है और विद्याओं को सिद्ध करता है । शरीर सौष्ठव-युक्त बना है, हाथ नागराज के जैसे लम्बे है, ओर सारे अवयव सुघड (सुन्दर) और मनोहर है । शस्त्र और शास्त्र में भी चतुर बन गया है; क्रमश: यौवन प्राप्त करता है, तब मध्याह्न के सूर्य की भाँति तेज से दीप्यमान होता है ।

रावण फिर से वरुण के सामने :

इस ओर रावण के दिल में वरुण राजा की बल-शक्ति काँटे की तरह चूभ रही है । सामान्य तौर पे भी रावण में भारी असहिष्णुता भरी पडी है । इसलिए रावण अब पूर्व की हुई संधि में मन-माने कुछ भी दूषण खडे कर के भी वरुण को जीतने निकल पडता है ।

जगत में लडाईयाँ, क्लेश और द्वेष... ये सब सच्चे कारणों से ही होते है क्या ? मन में सहनशीलता के भाव की कमी यानि असहिष्णुता के होने से असत्य बातें-बहानों को भी सत्य कारण के स्वरूप में प्रदर्शित करने में आते हैं और जरा सा मामूली निमित्त भी बड़े निमित्त के जैसे पेश किये जाते हैं, फिर कलह की शुरूआत होती है । यह सब करवाने की जिम्मेदार असहिष्णुता ही है ।

असहिष्णुता :

असहिष्णुता के अत्याचार बहुत है, हृदय में किसी के प्रति यदि कुलबुलाहट चल रही हो, उसकी कोई बात भले ही न्यायपूर्ण भी हो, तो भी हमसे सहन नहीं होती, तो कभी-कभी मिलते-जुलते बहानों करके बाहर व्यक्तरूप धारण करता है । फिर

तो ये असहिष्णुता की आग तब ही बुझेगी, जब सामने वाला बराबर दब गया, टूट गया, या हल्का पड गया ऐसा दिखें । इसमें सोचों कि लेश्या कैसी काली होती होगी ! इससे इस ऊँचे मानव जीवन में पुरानी बाध-वरु की वृतियाँ दमन होने के बदले ऐसी ताजी और पुष्ट हो जायेगी कि बाद में दीर्घकाल तक दुर्गति के भवों में चलती ही रहेगी । कहो तो असहिष्णुता रखकर क्या सार निकाला ?

असहिष्णुता भयंकर है ! गुणानुराग को भुलाकर गुण-दोष करवाती है । सामने वालों में चाहे जितने भी गुण हो, चाहे वो जितना भी सुकृत करता हो, पर यदि असहिष्णुता है, तो मन को ऐसे लगेगा कि 'देख लिये इसके यह गुण ! दंभ है दंभ सब ! छल है छल !'

'अरे ! पर उसने इतना अच्छा काम किया, वो तो देख ।'

तो कहेगा : 'देखा, देखा सब ! सौ चूहें खाके बिल्ली हज को चली ।'

मन ऐसे-ऐसे कितने ही द्वेष, झूठ और धिट्ठाई भरें विचार करेगा । किस कारण ? मन में असहिष्णुता की आग सुलग रही है इसीलिए !

गुणानुराग तो धर्म-शरीर का प्राण है । प्राण कायम रहे, तो शरीर काम का, बिना प्राण का शरीर किसी काम का नहीं । गुणानुराग के बदले यदि गुणों के प्रति द्वेष है, तो उससे दूसरी कहलाती धर्मसाधना भी मुर्दे जैसी बन जायेगी । इसलिए ही गुणानुराग को टिकाना हो, तो भूल से भी सामने वाले के प्रति असहिष्णुता मत रखना ।

असहिष्णुता के होने से तो मानव सुख में भी दु:खी बना रहता है । क्योंकि उसका चित्त मिली हुई सम्पत्ति-सुविधा में नहीं, परंतु सामने वाले के सही-गलत भूलों पर ही लगा रहता है । फिर उसी धून में मौका मिलने पर घर के लोगों पर फूट पडते है ! फिर वहाँ, कहो जिससे सुख मिलना है, लेना है उन कुटुंबीजनों के साथ प्रेम बढेगा या द्वेष ? असहिष्णुता की कुलबुलाहट उसके चित्त को संताप और संताप में ही रखने से शायद वो घर के भी कई काम बिगाड़ देगा ।

असहिष्णुता रख कर इस प्रकार;

- परिवार जनों से प्रेम बिगाड़ना,
- रिश्तें व स्नेह खराब करना,
- स्वयं के काम भी बिगाडना,
- गुस्से और कुलबुलाहट से लोगों में अपनी आबरू गँवाना;

क्या यही जीवन है ?

यदि इस एक असहिष्णुता को दूर करके मन को समभाव में रख पाओ और सिर्फ एक सहिष्णुता को अपना लो, तो कितने ज्यादा लाभ आप पा सकते हो !

- मिट्टी सहिष्णु रहती है, तभी तो घडा तैयार होता है ।
- बाजरी सहिष्णु रहती है, तभी तो उसके वडे तैयार हो पाते है ।

वडे (बडप्पन) भी क्या ऐसे ही बन जाते हैं ? जड जैसी वस्तु भी जो सहिष्णु रहकर सुन्दर रूप पा लेती है, तो क्या आत्मा जैसी चेतन असहिष्णुता से सुंदर रूप और प्रशंसा पा सकेगी; ऐसा समझते हो ?

उत्तम पुरुषों के दृष्टांत देखों, तो उसमें क्या देखने को मिलता है ? कितने ही जन्मों तक एक समान सहिष्णुता !

समरादित्य को जानते हो ना ? समरादित्य के जीव का अग्निशर्मा जीव ने ऐसा पीछा किया कि जन्मों-जन्म तक दुश्मनी निभाते रहा, परंतु इस महापुरुष ने सब सहन किया । लेशमात्र भी संताप, गुस्सा या द्वेष; कुछ भी नहीं किया अग्निशर्मा के जीव पर !

महासतीयाँ सीताजी, दमयंती, अंजनासुंदरी, सुरसुंदरी आदि ने भी क्या कम सहा था ? वो भी सामने वालो पर लेशमात्र भी द्वेष किये बिना !

सहिष्णुता तो आत्मा का सत्त्व है, जबकि असहिष्णुता तो सामने वालों के प्रति द्वेष

है, कायरता है, तामसीभाव है, ऐसी छूपी अग्नि है कि अचानक कभी भी भयंकर आग में बदल जायें और सब राख कर दे ।

सहिष्णु जीवन पर अधिकार:

जीवन पर अधिकार दोनों प्रकार से आजमाये जा सकते है । एक सहिष्णु जीवन पर, दूसरा असहिष्णु जीवन पर ।

ऐसे भी माना जा सकता है : 'फलाने का ऐसा-ऐसा व्यवहार, उसका तरीका, व्यवहार मैं क्यों चलने दुँ ? दूसरे चलाते होंगे, मैं नहीं । अवसर आने दो, इसको बराबर बता दूँगा...' पर यह अधिकार निभाने में बरबादी है, विनाश है, दीर्घ दुर्गति है ।

तब यह भी दावा रखा जा सकता है : 'यह क्या बडी बात है ? महापुण्यवंत जीवों को भी जो आपत्तियाँ आयी थी, उसके आगे यह तो कुछ भी नहीं । जैसे उन्होंने सहर्ष अपना लिया था, वैसे ही मैं भी अपना ही लुँगा । हल्ला मचाने वाले दूसरे है, पर गलती तो मेरे कर्मों की ही है, सामने वाले की क्या गलती ? सामनेवाला तो बेचारा दया का पात्र है ! अरे ! उपकारी है ! उसे दुश्मन ना समझुं ।' यह भी जीवन अधिकार है । इसके पीछे कितने ही कषाय, कितने ही गलत विचार, चिंता या कार्यों को अवकाश ही नहीं मिलता ।

ध्यान रखना; सहिष्णुता के अधिकार निभाने में पूर्व के कर्मों को भी बहुत दोष देने की जरूरत नहीं । रोना रोने की जरूरत नहीं । इससे भी दीनता आ जाती है, निराशा बढ़ती है । इसके बदले सही में तो ऐसी-ऐसी विचारणाएँ मन में चलती ही रहनी चाहिये कि -

'सभी की आत्मा अन्दर से तो बहुत अच्छी है, परंतु उनके और हमारे कर्म यह भुला कर हमसे ऐसे ऐसे कार्य करवाते है...! आपत्ति तो वास्तविक कसोटी है ! और चाहे

जैसी भी बाहरी स्थिति हो, इस पर मेरा अधिकार नहीं ।'

तो क्या अधिकार है ? कर्म के उदय से नीपजती वस्तु पर कर्म का अधिकार है । परंतु आत्मा में उच्च कोटी की शुभ भावनाएँ, उत्तम व्यवहार और उच्च मनोरथ का अभ्यास, सुवर्ण की तरह आपत्ति के आक्रमणों के अग्नि रूपी कष्ट को सहर्ष, सहृदय सहन करना...यह सब मेरे अधिकार में है । तो यह क्यों ना आजमाउँ...?'

११ हनुमान की पराक्रमवृत्ति

आखिरकार, रावण असहिष्णु था, इसलिए उसने जैसे भी करके बहाने निकाल के भी वरुण के साथ की हुई संधि को वरुण ने बराबर निभाया नहीं; यह मुद्दा खडा करके लडने चला । स्वयं के आज्ञांकित कितनी ही दूसरे राजाओं-महाराजाओं को बुलाया, वहीं पवनंजय और प्रतिसूर्य के पास भी समाचार आये । दोनों जाने के लिए तैयार हुए, तब हनुमान बिना पूछे कहता है :

'मेरे होते हुए आपको जाना बिल्कुल अनुचित्त है । यदि शस्त्रों पास में ही हो, तो हाथ से प्रहार कौन करता है ? और मैं बालक हुँ, इसलिए दया करने लायक हुँ; ऐसा तो नहीं समझते हो ना ? क्योंकि हमारे कुल में तो पराक्रम का अवसर आयु देखकर नहीं तय किया जाता !'

हनुमान पराक्रमी का पुत्र है और स्वयं भी पराक्रमी है, विनयवान भी है, इसलिए आग्रह पूर्वक यह माँग कर रहा है, और आग्रह के साथ अनुमति की भी प्रतीक्षा कर रहा है । पराक्रमी मानव अवसर आने पर ऐसे सुस्त नहीं होते कि दूसरें उसे जबरदस्ती खड़ा करें, तभी कार्य करने की तत्परता दिखायें । पर ये तो समझों जैसे अवसर की राह देखते ही बैठे हो, मौका मिला की कूद पडो, झपट लो !

जीवन पर अधिकार यही है कि 'शक्ति मिली है, तो पराक्रमी जीवन पर अधिकार निभाये' फिर, वहाँ 'कष्ट सहने पडे तो ? और स्वयं के सुख-मौज को छोड कर दु:ख में उतरना पडे तो ?...' आदि व्यर्थ की विचारणाएँ रहती ही नहीं, क्योंकि वो समझते है कि 'वैसे भी कष्ट और दु:ख कौन से कम सह रहे है ? अब तक कायर नि:सत्त्व जीवन पर अधिकार बहुत निभा लिये, अब तो पराक्रमी जीवन, सात्त्विक जीवन पर अधिकार निभाने है ।'

इस अधिकार का ख्याल मानव को स्फूर्ति देता है, ताकत देता है, सत्त्व देता है, उसके बाद सत्य, प्रमाणिकता, सौम्यता, उदारता, गंभीरता आदि गुण उमंग पूर्वक निभाये जाते है और इसके लिए पराक्रम पूर्वक भोग दिये जाते हैं । उसी तरह दान-शील-तप-भक्ति-सेवा-साधना... वगैरह पराक्रम पूर्वक आराधे जाते हैं; जबरदस्ती या निबदाने के रूप नहीं, कंगाल की तरह नहीं ! अपना समझकर होंश से, पराक्रम से !

शक्ति मानव की और दानव की :

विचार करना चाहिये कि मेरे में शक्ति तो दोनों प्रकार की है;

- मानव बनने की भी और दानव बनने की भी,
- धन का संग्रह करते जाने की और धन का दान करते जाने की,
- विषयों में ही आसक्त बने रहने की और त्याग में बढते जाने की ।

'शक्ति दोनों है, परंतु कौन सी शक्ति को अमल में लाने का पराक्रम मेरे और दूसरों के लिए तारक होगा और किस शक्ति का पराक्रम मारक होगा ? किस पराक्रम से ऐसे दिखेगा कि कीडे, पशु-पक्षी वगैरह से मैं मानवता तक ऊपर आ गया, फिर भी कुछ विशेष नहीं करता, अथवा किस पराक्रम से अब इससे भी ऊपर, ऊँचे जाने का मार्ग गमन कर सकुँगा ?'

'उच्च गमन का अर्थ यही है कि आंतरिक मनोवृत्ति और वृत्तियाँ में सुधार आये । हलके जन्मों में मात्र आहार, विषय, परिग्रह और निद्रा की मनोवृत्तियाँ तथा इसकी खातिर हिंसा, असत्य, नीति आदि कोई भी दुर्गुण आचरने की वृत्तियाँ थी । अब उसे सुधार कर तप, त्याग, धर्मसाधना, वगैरह की ही आदत बना जाये, अहिंसा, सत्य, नीति आदि के ही संस्कार बन जाये, तब जाकर कहलायेगा कि उच्च गमन चालु हुआ है ।'

पराक्रम और वय :

हनुमान ने कह दिया कि पराक्रम बताने का अवसर मिले, तब इस कुल में वय की गिनती नहीं देखी जाती !

यह कैसा सूचक वाक्य है । 'कुल' के बदले 'भव' शब्द लिखकर वाक्य पर विचार करे तो ? 'पराक्रम बताने का अवसर मिले, तब इस भव में वय(आयु) की गिनती नहीं देखी जाती ।' क्योंकि कुल के जैसे ही यह मानव भव भी पराक्रम का भव है । यहाँ अगर मानव उम्र देखने लग गया, तो भटक जायेगा !

पूर्व के वैसे संस्कार के योग से छोटी उम्र में त्याग, वैराग्य, ज्ञानशक्ति वगैरह देखने में आती हैं, है ना ? छोटी उम्र में वैराग्य पा लेते हैं, साधुजीवन का पालन करते हैं, महान ज्ञानाभ्यास करते हैं, वर्धमान-तप की ओली करते हैं आदि आज भी देखने को मिलता हैं ना ?

तो आप यदि ऐसे कहों कि 'बालक क्या समझता है ? इसकी क्या ताकत है ?' तो आप खुद ही नहीं समझें; ऐसा गिना जायेगा ! इस भव में आयु-उम्र की गिनती नहीं; ये स्वयं के लिए भी समझना है । क्योंकि शास्त्र कहते हैं : **'अकालो नास्ति धर्मस्य'** धर्म के लिए अकाल नहीं । क्योंकि जीवन चंचल है, मृत्यु का कोई भरोसा नहीं । जगी हुई धर्मभावनाओं का भी भरोसा नहीं कि वो अमल किये बिना टिक पायेगी ? संयोगों का भी क्या भरोसा हैं कि ये समान और अनुकूल चलेंगें ही । इसीलिए 'जागो तब ही सवेरा' धर्म पराक्रम की बुद्धि जगी, इसकी आवश्यकता समझ में आयी, तभी से पराक्रम आजमा लेना चाहिये । तप जैसे पराक्रम करने हो, तो शक्ति मापनी चाहिये, परंतु देखना हाँ ! कि कई बार तप का और त्याग का अभ्यास किया ही नहीं होता ! अभ्यास करके तो कितने आगे बढा जा सकता है ? इसकी खबर भी नहीं, इसीलिए ही बोल उठते हैं कि 'भाई ! आगे जाकर वापस लौटना पडेगा ।'

रानी और भैंस :

'अभ्यास से क्या हो सकता है ?'

अभ्यास से तो दूसरों को आश्चर्यचकित कर दें, ऐसे कार्य किये जा सकते हैं ।

एक राजा की सभा में एक मल्ल आया और उसने स्वयं के बल का प्रदर्शन किया । राजा तो हैरान रह गया । राजा रानी से बोला : 'देखो ! कितना बडा पराक्रमी है यह मल्ल ?'

रानी ने जवाब दिया : 'इसमें पराक्रम क्या ? अभ्यास से सब मुमकिन है ।'

'अरे पगली ! अभ्यास से क्या ऐसा हो सकता है ? बोल, तुं और मैं क्या यह पराक्रम कर सकते हैं ?'

रानी बोली : 'हाँ, अभ्यास से हो सकता है । अवसर आने पर बताऊँगी ।'

राजा को तो इन शब्दों में रानी की बेवकूफी और पागलपन लगा, क्योंकि अनुभव नहीं ।

इसीलिए ही कहो कि जिसे जिस बात का अनुभव नहीं, वो उसमें विरुद्ध अभिप्राय दें, तो बेवकूफ ही कहलायेगा ना ? फिर उसके बोल की किमत भी कितनी ?

अब रानी ने क्या किया ? महल के पीछे के भाग में एक भैंस ने एक बछडे को जन्म दिया था । उसने बछडे को अपनी गरदन पर, दो पैर एक भुजा पे और दो पैर दूसरी भुजा पे लेकर उठाया । ताजा जन्मा बछडा बहुत भारी नहीं होता, वो उठाया तो उठाया, पर फिर उठाकर पीछे की चार सीढीयाँ चढी और सीधे चौथी मंझिल पर चढा दिया, और फिर वापस उतारा ।

ऐसा उसने दूसरे दिन भी किया, तीसरे दिन भी किया, रोज-रोज बछडे को उठाकर चढाती-उतारती ।

देखते ही देखते बछडा तो मोटी भेंस रूप में आ गया । परंतु एकदम से वजन थोडे ही बढ जाता है ? रोज थोडा-थोडा सहज पा-आधा रतल बढता है और रानी ने रोज का उठाने का कार्यक्रम चालु रखा, इसलिए उठाने में खास वजन बढा हो; ऐसे लगा ही नहीं । वो बछडा मोटी भैंस बन गया, तो भी अभ्यास के कारण आराम से उसे उठा कर चढा देती ।

फिर एक बार राजा को बोली : 'याद है आपको वो ? अभ्यास से सब हो सकता है; इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं कि ओहो ! यह कैसा पराक्रम !'

राजा कहता है : 'अभी तक तेरा भ्रम गया नहीं ?'

रानी कहती है : 'भ्रम नहीं है यह, कहो तो साबित कर दुँ । बुलाओं आपके बहादुर सिपाहीयों को, मल्लों को, दूसरें जो लट्ठबाज हो उनको ।'

राजा को जिज्ञासा हुई कि रानी करने क्या वाली है ? महल के पीछे के भाग में सब को इकट्ठा किया ।

रानी कहती है : 'देखों, इस भेंस को उठाकर चोथे मंझिल तक चढाना है, जिसकी ताकत हो, वो स्वयं ही उठाकर चढा दों इसे ।'

राजा कहता है : 'स्वयं उठा कर भैंस को कोई कैसे चढा सकते है ?'

रानी कहती है : 'हाँ ! आप इन बहादुरों को पूछ कर तो देखें ?'

राजा को यह बात मन में बैठी ही नहीं, फिर भी पूछा : 'बोलो भाई ! भैंस को अपने ऊपर लादकर कोई ऊपर चढा सकता है ?'

कौन आये आगे ? बहुत वजन उठाने वाले भी यहाँ विचार करने लग गये कि भैंस को लादकर, चार सीढीयाँ चढना; ये कैसे हो सकता है ? कोई 2-4 लोग आगे भी आये, प्रयत्न भी किया, पर सफल नहीं हो सके और वापिस लौट गये ।

रानी कहती है : 'है कोई जो उठा सके ? फिर जब मैं लादकर चढाऊँ तब किसी को ऐसे ना लगे कि इसमें क्या बडी बात है, यह तो मैं भी कर लेता ।'

पर कोई आगे ना आया ! राजा को आशंका हुई कि यह रानी उठाने जायेगी, तो उसकी और मेरी आबरु ना लुंटा बैठे, इस डर से रानी के कान में सुझाव दिया कि ना करें ऐसी अनहोनी कोशिशें ।

पर रानी बोली : 'जरा भी चिंता या शंका ना करें' ऐसा कह कर वो उठी और भेंस के पेट के नीचे अपना सिर डालकर अपनी पीठ पर लाद दिया और उसके दो पैर स्वयं के गले के एक तरफ, और दूसरे दो पैर दूसरी तरफ हाथों से पकड लिये और सीढीयाँ चढने लगी । रोज का अभ्यास था, तों एक-एक करके फटाफट चढ गई और फिर से सीढीयों से उतर कर भेंस को सही सलामत नीचे उतार दी ।

राजा, मल्ल, सैनिक; सब के सब आश्चर्य पूर्वक खडे ही रह गये कि रानी साहिबा में इतना बल ! यह कैसा पराक्रम ! वाह ! इनके सामने तो बडे-बडे मल्ल भी पानी भरें !

वास्तव में ऐसा नहीं था कि रानी मल्लों से युद्ध कर सकने में समर्थ थी, क्योंकि कुश्ती का अभ्यास नहीं था । जबकि इसका अभ्यास था, इसलिए यह आसानी से कर दिया, जो दूसरों को चमत्कार सा लगा ।

राजा ने पूछा : 'पर आप यह कैसे उठा पायी ?'

रानी कहने लगी : 'इसमें कोई बडी बात नहीं ! इतना कठिन भी नहीं, मात्र अभ्यास ! देखों ! जब यह छोटा बछडा था, तब से लेकर रोज मैं इसको अपने ऊपर लाद कर ऊपर चढती थी, वो भी पिछले दिन तक ! इसलिए आज भी मुझे यह करने में कोई मुश्किल नहीं लगी । इन सबको और आपको अभ्यास नहीं, इसलिए महामुश्किल लगा ।'

अभ्यास से तो बडी-बडी कुश्तीयाँ खेली जा सकती है, बडे-बडे कठिन कार्य सहजता पूर्वक किये जा सकते हैं, बडे-बडे पहाड पैदल दौडकर पार किये जा सकते हैं, बडे-बडे खड्ढे आसानी से कूदे जा सकते हैं ! अभ्यास से बडे-बडे व्यायाम, बडी कलाएँ, शास्त्रज्ञान वगैरह को सिद्ध किया जा सकता है, वो भी ऐसे

कि दूसरे चकित रह जायें, पर स्वयं को कोई परेशानी ना लगें ।'

राजा और बाकी सब समझ गये कि, 'अभ्यास ही सही चीज है ।'

बात सही भी है । तप में, त्याग में दिखता भी है जिनको इनका अभ्यास है, वो बडे-बडे तप, त्याग करना खेल समझते हैं । इसलिए ही अभ्यास से बडे-बडे पराक्रमी कार्य कर सकते हैं ।

हनुमान रावण की छावणी में :

हनुमान ने भी पराक्रम भरे शब्द कहें । हनुमान के पराक्रम भरे वचन सुन कर पवनंजय और प्रतिसूर्य खुश हो गये और विचार करके अनुमति भी दी, उसके शिर को चुम कर फिर मंगल प्रस्थान करवाया । बडे-बडे सामंत राजाओं, सेनापति और अनेक सैनिकों को लेकर वो युद्ध हेतु निकले और रावण की छावणी में जा पहुँचें ।

हनुमान को आते देखकर रावण के हर्ष का पार नहीं रहा, क्योंकि हनुमान जैसा पराक्रमी जग में बहुत मुश्किल से मिलता है । लगता था कि जैसे यह हनुमान नहीं, पर स्वयं विजय खुद रूप बदलकर आया हो ! जब रावण को हनुमान प्रणाम करता है, तब रावण उसे बाहों से पकडकर सहर्ष अपनी गौद में बिठा देते हैं । छावणी में नया उत्साह आ जाता हैं !

पराक्रमी नेता :

पराक्रमी मनुष्य के आगमन से समुह उत्साहित हो जाता है; ऐसा दुनियाँ में भी देखा जाता है । इसीलिए तो धर्म के कार्यों में भी एक ऐसा पराक्रमी आगेवान (नेता) नहीं हो, तो समुह पुरा का पुरा हजारों का होने के बावजूद भी निष्क्रिय बैठा दिखता है ना ? कुटुंब में भी बडे-बुजुर्ग जो ऐसे धर्म-पराक्रमी ना हो, तो कुटुंब ज्यादातर धर्म की बातों में सुस्त दिखता है ना ?

यह सूचित करता है कि धर्म में पराक्रम दिखाकर आगे चलनेवाले को अपने पीछे कितनों को धर्म में जोडने का कितना ज्यादा पुण्य उपार्जन करने का लाभ मिलता

है ! पराक्रम बडा किमती है, अनमोल है । अंदर शक्ति तो भरी पडी है, बाहर सामग्री भी मिली है, अब सिर्फ और सिर्फ पराक्रम करके शुरूआत करने की जरूरत है । बिना पराक्रम बडे-बडे कार्य सफल होते नहीं ।

हनुमान और रावण का विजय :

रावण वरुण राजा की नगरी को घेर लेता है । वरुण और उसके शूरवीर बेटे लडने के लिए बाहर निकलते हैं, वो भी बडे पराक्रमी थे । रावण के साथ बडी लडाई चली । वरुण के पुत्रों ने रावण को थका दिया, तब वहाँ हनुमान ने आकर क्रोधित होकर उनसे युद्ध किया और विद्या के सामर्थ्य से उनको स्तंभित कर पशु की तरह बाँध दिया ।

तब क्या वरुण चुपचाप देखता रहेगा ? वो तो क्रोधित होकर हनुमान की तरफ दौडे, सुग्रीव वगैरह शूरवीर बीच में आये ! उनको तो वरुण ने मार्ग में आने वाले वृक्षों के जैसे उखाड फेंका ।

तब रावण ने बाणों की भीषण बारिश की और वरुण भी रावण के सामने लडने लगा, रावण ने अपना पूरा प्रभाव दिखा कर उसे आकुल-व्याकुल करके छल से उस पर कूद कर उसे पकडकर बाँध दिया । तुरंत ही चारों तरफ जय-जयकार होने लगी, चारों दिशाएँ गुँज उठी और सब छावणी में आये । वहाँ रावण ने वरुण और उनके पुत्रों को उदारता से छोड दिया, क्योंकि महान पुरुषों का क्रोध सामने वाले के नमन से ही खत्म हो जाता है ।

२० रावण अधम नहीं

रावण की यह उदारता देखने जैसी है । लोग रावण को राक्षस, अधम, दुष्ट, दुराचारी, क्षुद्र वगैरह के रूप में जानते हैं, मानते हैं, पर ये उनकी सच्ची पहचान नहीं हैं और ऐसा करके वह सब एक महान पुरुष की आशातना करते हैं ।

- रावण कोई राक्षस नहीं था, पर राक्षस नाम के वंश में उसका जन्म हुआ था ।
- ना ही रावण अधम था, उनकी जिनभक्ति, गुरुभक्ति वगैरह अद्भुत थी और ऐसे उत्तम कार्य उत्तम दिल से करते थे ।
- रावण दुष्ट नहीं, शिष्ट पुरुष था ।

अलबत; कभी-कभी मनुष्य आवेश में आकर दुष्ट कर्म कर बैठता है, पर इससे वो पूरी जिंदगी दुष्ट ही नहीं कहलाता ।

ऐसा ही कुछ रावण के जीवन में हुआ । वो सीता को उठा ले गया, वो भी कपट से, परंतु ऐसा होने का कारण यह था कि लक्ष्मण के हाथों रावण के भाणेज शंबूक का सिर अन्जाने में कट गया । क्योंकि शंबूक घास के ढेर के बीच में बाहर से न दिखे ऐसे बैठकर विद्याजाप कर रहा था और लक्ष्मण ने तलवार की धार जाँचने के लिए घास के ढेर पर चलायी । इसमें शंबूक कट गया, इससे उसकी माता सूपर्णखा गुस्सा हुई और उसने रावण को उकसाकर सीता का हरण करवाया । संयोगवश ऐसा कोई दुष्ट कार्य हो जाता है, परंतु इससे जीवनभर के लिए मानव दुष्ट नहीं गिना जा सकता ।

- वैसे रावण दुराचारी भी नहीं था, इसलिए तो सीता को उठा कर, विमान

में बिठाकर ले गया इतना माफ कर दो, तो सीता की इजाजत के बिना, उसे छूने को भी तैयार नहीं था ।

- वैसे ही रावण क्षुद्र भी नहीं था, इसीलिए तो इसके जीवन में कितनी ही उदारता देखने को मिलती है ।

उदा. : (i) यहाँ ही देख लों कि वरुण और उनके पुत्रों को मारा नहीं, जीत हाँसिल करने के बाद भी कैद नहीं किया, परंतु तुरंत छोड दिया और उनका राज्य भी उन्हें ही लौटा दिया ।

(ii) ऐसे ही एक बार ताजी विद्यासिद्धि करने के बाद वैश्रवण को हराकर जब संसार त्याग करते देखा, तब रावण ने कहा कि 'आप क्रोधित न हो, खुशी से लंका पे राज करों । पृथ्वी विशाल है, हम चाहे कहीं और स्थान बना लेगें ।'

क्षुद्रता वाली अधमात्मा ऐसी उदारता दिखा सकती है क्या ? इसलिए चरित्रकार कहते हैं : महात्मा का कोप, सामने वाले के नमते ही उतर जाता है ।

रावण को इसमें महात्मा ठहराया । मानव को गुस्सा आता है, अभिमान होता है, परंतु इसके परिणाम वो कहाँ तक पहुँचाता है ? इस पर उसकी क्षुद्रता-उदारता का माप निकलता है । क्षुद्र मानव आवेश में आकर सामने वाले का बडे से बडा नुकसान करता है, उसकी निंदा करने में पीछे नहीं हटता, सामने वाला झुक जाये, तो भी वैर का बदला लेने में और कुछलने में कोई कसर बाकी नहीं रखता, पर रावण ने कभी ऐसा जीवन नहीं जीया । इसलिए यहाँ देखने को मिला कि वरुण व उनके पुत्रों को छोडकर, राज्य वापस सौंप दिया ।

इस पूरी जीत के पीछे हनुमान का महान पराक्रम कारणभूत बना । यह देखकर वरुण ने स्वयं की पुत्री सत्यवती का विवाह उसके साथ कर दिया । स्वयं ने जिसका पराक्रम अनुभव किया हो; ऐसा जमाई इतनी आसानी से कैसे मिले ?

रावण वहाँ से लंका गये और हर्ष से हनुमान का विवाह अपनी बहन की पुत्री अनंगकुसुमा के साथ करवा दिया । सुग्रीव ने भी अपनी पुत्री पद्मरागा, नलराजा ने

हरिमालिनी और अन्य बाकी राजाओं ने भी अपनी पुत्रीयाँ का विवाह इनसे कर दिया । रावण फिर हनुमान को दृढ आलिंगन करके विदा देते हैं ।

'जीवन पर अधिकार और महासती अंजनासुंदरी' का विवेचन यहाँ पूर्ण होता है । इसे बार-बार पढकर इस पर चिंतन-मनन करके आध्यात्मिक जीवन पर के अधिकार जो आजमायेंगे, वो तो अनंत कल्याण की मंगल माला के अधिकारी बन जायेंगे ।

प्रमादवश श्री जिनवचन से विरुद्ध कुछ लिख दिया हो,

तो त्रिविधे मिच्छा मि दुक्कडं ।

पूज्यपाद गुरुदेवश्री की साहित्य सरिता

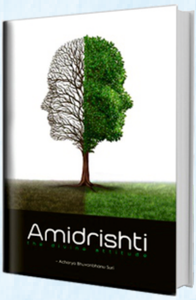

Amidrishti
the divine attitude

Available at : Crossword.in, Amazon.in, Flipkart.com,Selected Stores of Crossword. On Amazon portal of UK, France,Italy,Germany, Japan etc. (more than 12 countries)

गुजराती बेस्ट सेलर 'अमीचंदनी अमीदृष्टि' की अंग्रेजी आवृत्ति

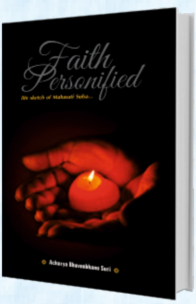

Faith Personified
life sketch of Mahasati Sulsa...

Available at : www.jainonline.org

सुलसा चरित्र आधारित धर्मश्रद्धा पुस्तक का अंग्रेजी संस्करण

અધિકાર
सच्चे अधिकार का पथदर्शक

Available at : www.jainonline.org

अंजनासुंदरी चरित्र आधारित 'अधिकार' पुस्तक का गुजराती अनुवाद

Coming soon
'अधिकार' पुस्तक अंग्रेजी में !

पूज्यपाद गुरुदेवश्री के समग्र साहित्य में डूबकी लगाने
visit at : www.jainonline.org

जीव यदि मन, वचन, काया की कुप्रवृत्तियों का जीवन जीने का अधिकार निभाये, तो कर्म कहते है :
'आजा, अब आपत्तियाँ बरसाने का अधिकार मैं भी पुरा करुँ !'

(अधिकार पेज नं. ११४)

सच्चा अधिकार कौन सा ?

- क्षमा देने का या कृपा मांगने का ?
- सहिष्णु बनने का या सामना करने का ?
- ईर्ष्या का या प्रमोद का ?
- मानव बनने का या दानव बनने का ?
- भोग में खपते जाने का या त्याग में बढते जाने का ?
- धन संग्रहित करते जाने का या दान देते जाने का ?

गलत अधिकार पाने की और अधिकारी बनने की प्रतियोगीता में दौडते हमें रोकने वाली सायरन याने

अधिकार ।

श्री जैनाचार्य
प्रेम - भुवनभानु - जयघोष सूरीश्वरजी